03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 55

प्रौद्योगिक आधुनिकता और सामाजिक अनुभव, 1870-1930

प्रभात कुमार

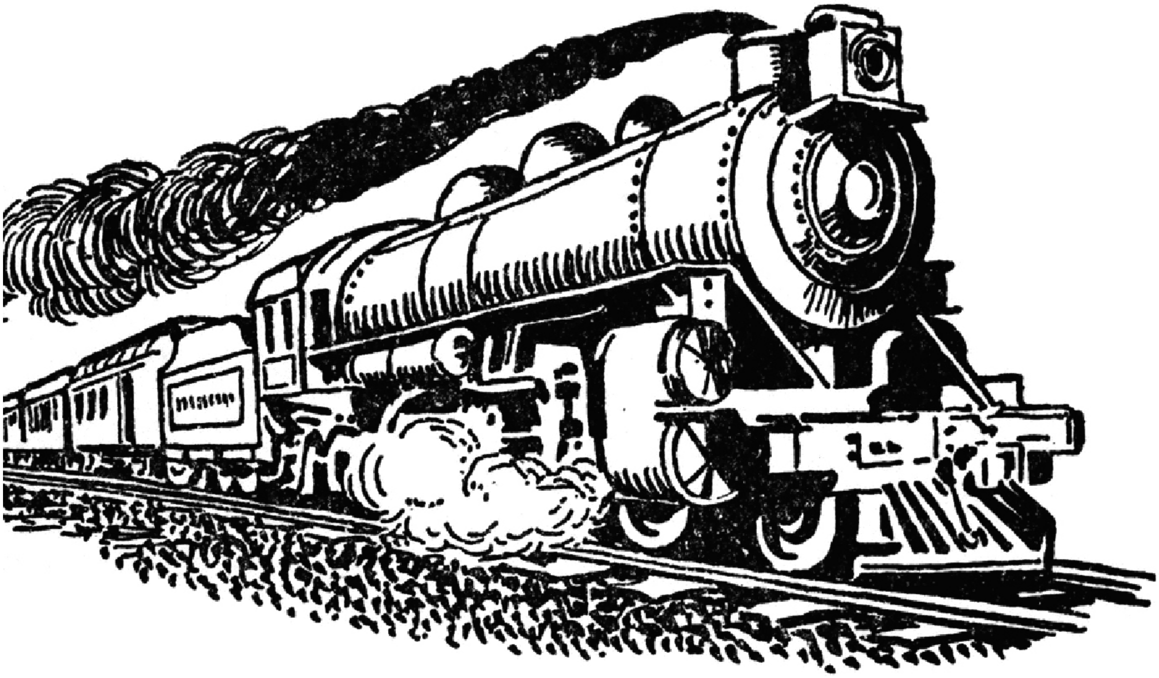

रेल के ज़रिये आधुनिक प्रौद्योगिकी के सामाजिक जीवन के कुछ पहलुओं को केंद्र में रख कर यह लेख 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध के हिंदी जनपद में प्रौद्योगिक आधुनिकता की सांस्कृतिक परिकल्पना और सामाजिक अनुभव के इतिहास की पड़ताल करेगा। आधुनिक प्रौद्योगिकी का मौजूदा भारतीय इतिहास-लेखन, अगर संक्षेप में कहें तो, युरोपीय तकनीक के हिंदुस्तान में हस्तांतरण का इतिहास है। कैसे युरोपीय आक़ाओं ने इसका नियोजन और इस्तेमाल 'साम्राज्य के औज़ार' (टूल ऑफ़ एंपायर) की तरह किया? कैसे ये औज़ार साम्राज्य की वैचारिक मंशा व राजनैतिक-आर्थिक स्वार्थ के ही मूर्त रूप थे? वग़ैरह, वग़ैरह। ज़ाहिरन ये निहायत ज़रूरी और दृष्टिपूर्ण अध्ययन हैं। किंतु, इन आख्यानों में प्रौद्योगिकी की कहानी महज़ साम्राज्य, साम्राज्यवादी संरचना और साम्राज्य के विभिन्न किरदारों और उनकी राजनीति की विस्तारित कहानी मात्र होकर रह जाती है, या साम्राज्यवाद की राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक आलोचना की कथा के भीतर प्रायः आधुनिक प्रौद्योगिकी की चरित-चर्चा उसके संदेहास्पद नैतिक-वैचारिक पक्ष को लेकर की जाती है। प्रौद्योगिक आधुनिकता के बरअक्स हिंदुस्तानियों की अपनी सांस्कृतिक-सामाजिक

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 56

परिकल्पना और अनुभव का इतिहास, जाने-अनजाने, या तो छूट जाते हैं, या टुकड़ों में कही गई छोटी-मोटी कहानियाँ मात्र बनकर रह जाते हैं।[1] हमारा मानना है कि अगर हम फ़ोकस को घुमा कर कहानी के केंद्र में भारतीय अनुभव को रखें तो आधुनिक प्रौद्योगिकी के विविध और समृद्ध सांस्कृतिक जीवन को दिलचस्प ढंग से इतिहासबद्ध किया जा सकता है। मसलन, नई प्रौद्योगिकी का स्वागत व अभिग्रहण भारतीय समाज में किस तरह से हुआ? दैनंदिन लेन-देन में किस प्रकार से इसे परखा गया? इसे क्या नए मायने दिए या ढूँढ़े गए? कैसे नई तकनीकी ने नैतिक-सामाजिक आचार के बदलाव का आगाज़ किया? प्रौद्योगिकी कैसे आधुनिक भारत की सामुदायिक सांस्कृतिक परिकल्पनाओं में गहराई से दर्ज हुई?[2] या, अगर शीला जेसनोफ़्फ़ के अंदाज़ में कहें, किस प्रकार एक नूतन 'समाजी-तकनीकी' कल्पना (सोसिओटेक्निकल इमैजिनरी) का निर्माण हुआ।[3] इन सवालात के ज़रिये लेख यह भी रेखांकित करेगा कि कोई तकनीकी कहीं भी सामाजिक मूल्यों व मानदंडों को अकेले या एकतरफ़ा प्रभावित नहीं करती, वरन (भारतीय) समाज द्वारा ख़ुद को शासित और गठित करने के रवैये से प्रौद्योगिकी के स्थानीय जीवन और चरित्र का निर्धारण होता है।

चलती का नाम गाड़ी

शुरुआत करते हैं 1880 के दशक में सार्वजनिक बहसों में उठाए गए उन प्रकरणों से जो तत्कालीन समाजी-तकनीकी परिकल्पनाओं की झलक दिखाते हैं। ऐसी परिकल्पनाएँ जो निवर्तमान राष्ट्र की नब्ज़ पर अंगुली रखकर वांछित भविष्य की ओर इशारा करती हैं। राधाचरण गोस्वामी ने अपनी पत्रिका *भारतेंदु* के जुलाई 1883 के अंक में एक कार्टून प्रकाशित

[1] आर्नोल्ड (2000, 2013); एडस (1989); केर (1995, 2003, 2008); रैना और हबीब (1995) लाहिरी चौधरी (2010); बोनिया (2016); आहूजा (2009); औगियर (2011); प्रसाद (2015); मुखोपाध्याय (2019). इयन केर और डेविड आर्नोल्ड के परवर्ती लेखन, हैरियट ब्युरी, मैरियन औगियर, ऋतिका प्रसाद, अपराजिता मुखोपाध्याय आदि की नई रचनाओं में आधुनिक प्रौद्योगिकी के भारतीय अनुभव की कहानी को जगह मिली है. रेल को लेकर विस्तृत पुस्तकें औगियर, मुखोपाध्याय और प्रसाद की हैं. लेकिन, आगे पढ़ने से स्वतः ज़ाहिर हो जाएगा, इस लेख में उठाए हुए प्रसंग और स्रोत, दोनों ही इन क़िताबों के केंद्र में नहीं हैं. चुनिंदा संदर्भ यहाँ हैं, बाक़ी लेख में उद्धरण की ज़रूरतों के हिसाब से बाद के पन्नों में दिए गए हैं.

[2] आर्नोल्ड के शब्दों में : 'प्रौद्योगिकी का इतिहास वस्तुओं के भौतिक इतिहास और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं से कहीं ज़्यादा है. इसमें मानवीय कल्पनाओं के उद्यम और उड़ान की पड़ताल भी समाहित है... प्रौद्योगिक उत्पाद, कौशल और प्रक्रियाओं से लोगों का लगाव या दुराव किसी तकनीकी को नई ढाल और अलग स्वरूप देता है. तकनीकी भविष्य-दृष्टि को सूचित और निर्मित करती है, वर्तमान की आकांक्षाओं को आकार देती है और अतीत के विश्लेषण को रंग प्रदान करती है'. आर्नोल्ड, (2013), 15.

[3] जेसनोफ़्फ़ के मतानुसार, 'समाजी-तकनीकी परिकल्पनाएँ वांछित भविष्यों की ऐसी दृष्टि होती है जिनका धारण और प्रदर्शन [वैयक्तिक न होकर] सामुदायिक होता है, जो सामाजिक जीवन और शासन के विभिन्न रूपों की साझी समझदारी से संचालित होती हैं, और जिसके प्राप्ति की संभावना विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में होने वाली उन्नति के ज़रिए होती है. कोरे विचारों और फ़ैशनों के विपरीत, समाजी-तकनीकी परिकल्पनाएँ सामुदायिक, टिकाऊ व प्रदर्शनीय होती हैं, बल्कि ये देशकाल और संस्कृति सापेक्ष भी होती हैं. ये परिकल्पनाएँ आधुनिकता के अंतर्गत होने वाले विज्ञान, प्रौद्योगिकी और समाज के सह-उत्पादन से निकली हुई उत्पाद भी होती हैं और औजार भी. जेसनोफ़्फ़ (2015) : 19.

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 57

किया, जिसका शीर्षक था 'उन्नति की गाड़ी'।[4] कार्टून में दिखाया गया कि एक अंग्रेज़ पुरुष अपने हाथ में 'शासन' और 'अनुशासन' की चाबुक लहराते हुए उन्नति की गाड़ी हाँक रहा है। एक पंक्ति में क्रमश: एक बंगाली, एक मराठी और उसके बाद एक पंजाबी मर्द खड़े गाड़ी को ठेलते हुए आगे बढ़ाने में मदद कर रहे हैं, उन सबसे काफ़ी पीछे 'आलस्य' से पीड़ित और 'अविद्या' की बेड़ी में जकड़ा हुआ एक हिंदुस्तानी आदमी नीचे पड़ा है।

तक़रीबन चार महीने बाद 1884 के नवम्बर महीने में दिए गए अपने प्रसिद्ध बलिया व्याख्यान, 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है?' में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कहा[5] :

> यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन, अंग्रेज़, फरासीस आदि तुरकी ताज़ी सब सरपट दौड़े जाते हैं। सबके जी में यही है कि पाला हमीं पहले छू लें। उस समय हिंदू कठियावाड़ी ख़ाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं... वहाँ के लोगों का यह सिद्धांत है कि एक दिन भी व्यर्थ न जाए। उसके बदले यहाँ के लोगों में जितना निकम्मापन हो उसे उतना ही बड़ा अमीर समझा जाता है। आलस्य यहाँ इतना बढ़ गया कि मलूकदास ने दोहा ही बना डाला 'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम। दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम।

यानि, उन्नति की घुड़दौड़ शुरू हो चुकी है, उन्नति की गाड़ी रफ़्तार से आगे बढ़ रही है। सभी लोग रेस में मौजूद हैं, गाड़ी पर सवार। सिर्फ़ हिंदू/हिंदुस्तानी ही हैं जो इस रेस से नदारद हैं, ज़मीन पर लोटे, आलस में पड़े, जड़ता में फँसे, गतिहीन और पतनशील! क्योंकि, दूसरी क़ौम के विपरीत हिंदुस्तानियों के अग्रगामी वर्ग, शिक्षित संभ्रांत लोग, विलासिता और अविद्या के अंधकूप में धँसे पड़े हैं। अगर कुछ सक्रिय भी हैं तो उनकी सक्रियता ऊर्जाहीन, अक्षम, लद्धड़ और गतिहीन है – ख़ाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं। और तो और, अक्रियता और गतिहीनता का महिमामंडन ऐसा है कि इसे काव्य-सौंदर्य का जामा भी पहना दिया गया है! जो भी हो, ध्यान देने के क़ाबिल है 'उन्नति' के पद का प्रयोग। 1880 के पहले प्रकाशित और उपलब्ध शब्दकोश में इसका अर्थ है बढ़ोतरी, समृद्धि, विस्तार, ऊँचाई पाना, ऊपर उठना, वग़ैरह – यानि लंबवत या क्षैतिज (किंतु स्थितिज) वृद्धि। तीव्रता और अग्रमुखी गतिशीलता का बोध अब तक नहीं दिखाई पड़ता है। वहीं हरिश्चंद्र और गोस्वामी जैसे प्रबुद्ध और द्रष्टा लोगों की चर्चाओं और उद्धरणों में 'उन्नति' के पद में रफ़्तार और गतिशीलता का अतिरिक्त अर्थ समाहित होता हुआ स्पष्ट दिखता है। उन्नति का मतलब अब है ऐसी वृद्धि,

---

[4] यह कार्टून मेरे हाथ नहीं लग पाया है, यह उद्धरण परिमलेंदु (2007) : 21 से लिया गया है. राधाचरण गोस्वामी (1858-1925) वैष्णव आचार्य और वृंदावन के राधारमण मंदिर के मुख्य पुजारी गोस्वामी गल्लोजी महाराज के पुत्र थे. राधाचरण 'भारतेंदु मंडल' के एक प्रमुख रचनाकार भी थे. उनकी आत्मकथा, जीवनी और लेखन को समझने के लिए देखें शिशिर (1990).

[5] सिंह (2010) : 66-71.

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 58

जिसमें अग्रमुखी गति है, तेज़ी से आगे की ओर बढ़ता हुआ।[6] संकल्पनात्मक स्तर पर 'उन्नति' अब 'प्रोग्रेस' या विकास के नए या आधुनिक अर्थ को समेटती नज़र आती है। यह महज़ इत्तेफ़ाक़ नहीं कि उन्नति की परिकल्पना को दृष्टिगोचर करने के लिए गाड़ी – घोड़ागाड़ी या रेल इंजिन (जिसकी मशीनी शक्ति को उन दिनों अश्व-शक्ति की इकाई में मापा जाता था) – के रूपक का इस्तेमाल किया जा रहा था। जैसा कि भारतेंदु के उसी भाषण के अगले उद्धरण के रूपक से और स्पष्ट होगा, जिसमें कहा गया है कि हिंदुस्तान के ठहराव व पतन का जो कारण है वह है रेल इंजन का अभाव :

> हमारे हिंदुस्तानी लोग तो रेल की गाड़ी हैं। यद्यपि फ़र्स्ट क्लास, सेकेंड क्लास आदि गाड़ी बहुत अच्छी-अच्छी और बड़े महसूल की इस ट्रेन में लगी हैं पर बिना इंजिन ये सब चल नहीं सकतीं, वैसे ही हिंदुस्तानी लोगों को कोई चलाने वाला हो तो ये क्या नहीं कर सकते...

गाड़ी चला कौन रहा है, कोई अंग्रेज़ या औपनिवेशिक शासन का प्रतिनिधि, भारतीय राष्ट्र के अग्रज समुदाय (देशी मध्य-वर्ग) के समर्थन के या उसके बग़ैर, अगर उद्धरणों में व्याप्त इन सवालों को तत्काल किनारे कर इनमें प्रयुक्त बिंबों, रूपकों, अन्यार्थों और कल्पनाओं पर ध्यान दें,[7] तो हमारे दर्ज करने लायक़ कुछ अनूठी और दिलचस्प बातें उभरती हैं। और वे हैं इंजन, गाड़ी अथवा रफ़्तार और आवागमन की आधुनिक प्रौद्योगिकी की केंद्रीयता। थोड़ी और स्पष्टता और रोशनी के लिए हरिश्चंद्र के भाषण के आठ साल पहले लिखे गए एक लेख के एक हिस्से पर नज़र डालते हैं।

सन् 1875 में *हरिश्चंद्र चंद्रिका* में छपे 'भारतवर्ष की समृद्धि' शीर्षक वाले इस लेख में उपन्यासकार लाला श्रीनिवास दास ने पछतावे और असंतोष के साथ कहा :

> बहुत से बंगाली और पारसी सिविल सर्विस, डॉक्टरी और बैरिस्टरी की परीक्षा देने विलायत जाते हैं, परंतु कोई इस प्रयोजन से नहीं जाता कि वहाँ से कलों का काम सीख कर आवै और यहाँ इसका प्रचार करै... पनचक्की, धुआँचक्की, सूत काटने की कला, वस्त्र सीने की कला, लोहा ढालने की कला, भाँत-भाँत की घड़ियाँ, अरगन बाजा, गैस की रोशनी, फोटोग्राफ़, और छापा आदि... मनुष्य ही ने बनाई है और भारतखंड के निवासी

---

[6] 1880 से पहले छपे शब्दकोश (जैसे जे. टी. थॉमसन के ए डिक्शनरी इन हिंदी ऐंड इंग्लिश) और इस काल के बाद छपे शब्दकोश, (जैसे श्यामसुंदर दास के हिन्दी शब्दसागर) में 'उन्नति' शब्द के अर्थ की तुलनात्मक समीक्षा कर हम ये बिंदु आसानी से उजागर कर सकते हैं.

[7] वसुधा डालमिया, संजय जोशी व अन्य बहुत सारे विद्वानों ने इस विषय पर काफ़ी कुछ लिखा है और मध्य-वर्ग की आत्म-छवि और उसके आत्म-परिशीलन (सेल्फ़-फैशनिंग) के बारे में विस्तार से चर्चा की है. उन्होंने यह साफ़-साफ़ दिखाया है कि मध्य-वर्ग अपने आप को राष्ट्र की अग्रगामी क़ौम और राष्ट्र या अवाम की आवाज़ मानता था, जिससे उसके ख़ुद के वजूद को भी वैधता मिलती थी. डालमिया (1997) जोशी (2005).

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 59

> भी चैतन्य होकर इस काम में श्रम करै तो सब कुछ बना सकते हैं परंतु हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने से कुछ नहीं होता है।[8]

आम भारतीय समाज की जड़ता, आलस्य, गतिहीनता आदि पर कलपने के अलावे दास इस बात पे अचंभित नज़र आते हैं कि शिक्षित भारतीय आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, ख़ासकर मशीन और प्रौद्योगिक विद्या (कलों का काम) को लेकर इतने उदासीन क्यों हैं! क्योंकि, उनके अनुसार भारत के (समृद्ध) भविष्य की धुरी तो आधुनिक प्रौद्योगिकी और विज्ञान के ज्ञान पर ही टिकी हुई थी।[9] दास (और उनके समकालीनों) में यह विश्वास कि भारत की समस्याओं का निदान सिर्फ़ वैज्ञानिक ज्ञान और तकनीकी कौशल के रामबाण से ही हो सकता है इतना गहरा था कि इसकी छाप इस लेख के छह साल बाद लिखे गए उनके सामाजिक उपन्यास, जो कि दिल्ली के व्यापारी समाज या भारत की 'व्यापारिक आधुनिकता' को केंद्र में रखकर लिखा गया था, में भी स्पष्ट और शायद अतिरेकी रूप में दिखती है। दास के इस विश्वास की उनके अपने उपन्यास में पड़ी अतिरंजित छाप को उनके समकालीन बुद्धिजीवी आलोचकों-पाठकों ने भी अपने अंदाज़ में दर्ज किया। हिंदी के 'प्रथम' उपन्यास *परीक्षा गुरु* की समीक्षा करते हुए *हिंदी प्रदीप* के संपादक बालकृष्ण भट्ट ने एक ओर तो हिंदी जगत में उपन्यास की नई विधा का दोनों हाथों से स्वागत किया। वहीं दूसरी ओर, आधुनिक विज्ञान और तकनीकी के प्रति उपन्यासकार की जुनूनी आसक्ति तथा उपन्यास के गद्य में ठूँसे हुए रूखे, शैक्षणिक और उपदेशी वैज्ञानिक ज्ञान के कारण भट्ट ने दास को आड़े हाथों लेकर खरी-खोटी भी सुनाई। भट्ट ने पछतावे के साथ ये आरोप लगाया कि लेखक ने मोहक सौंदर्य और मनोरंजक गुणों से लैस इस अपूर्व नूतन विधा का नाश कर दिया!

> इस उपन्यास की भाषा और 'प्लाट' बंदिश बहुत कुछ सरा [हना] के योग्य है [।] ग्रंथकर्ता ने अंग्रेज़ी फारसी संस्कृत और विज्ञान में अपनी लियाक़त जहाँ तक हो सका भरपूर हमसे प्रगट किया है [,] पर न जानिए क्यों हमें इस लेख में एक प्रकार का रूखापन जँचता है [।]... नाटक वा उपन्यास के प्रधान अङ्ग शृंगार [,] हास्य, कभी 2 वीर और करुणा होते हैं सो उन सबकी इसमें कहीं झलक नहीं है [।] क्या नीरा विदुरप्रजागर और ठौर-ठौर बेलून आदि वैज्ञानिक बातों ही के भर देने से समस्त लेखनी की चातुरी समाप्त हो गई; Novel writing उपन्यास संबंधी लेख और विज्ञान तथा नीति से क्या सरोकार [!]... ग्रंथकर्ता

[8] जैन (1998) : 80 से उद्धृत. इस तरह के विचार-शब्द दास के उपन्यास *परीक्षा गुरु* में भी बहुतेरे स्थानों पर पाए जा सकते हैं.

[9] माइकल एडस के सहारे यहाँ विज्ञान और प्रौद्योगिकी की आधारभूत परिभाषा देना स्पष्टकारी होगा : मौलिक तत्त्वों और सत्वों की खोजबीन और समझदारी विज्ञान का मूल उद्देश्य होता है जबकि प्रौद्योगिकी ज़्यादा व्यवहारमूलक और तात्कालिक समस्याओं के निदान की ओर मुखर होती है. विज्ञान सैद्धांतिक और प्रौद्योगिक दोनों हो सकता है, लेकिन वह पद्धतिबद्ध प्रयोगों और किसी फेनोमेनन के अन्तर्निहित सैद्धांतिक नियमों या नियामकों की खोज की तरफ़ उन्मुख होता है. प्रौद्योगिकी में भी सिद्धांत, नियम, प्रयोग आदि शामिल हो सकते हैं किंतु उसका प्राथमिक उद्देश्य होता है डिज़ाइन, मानवीय युक्तियों में वैज्ञानिक नियमों को लागू करना. एडस (1989) : 5-6.

> महाशय को अनेक प्रकार के उपदेश वाक्य और विज्ञान चातुरी प्रगट करना था तो गुलदस्ते-यख़लाक या विद्याङ्कुर के ढंग की कोई पुस्तक बनाते [।] यदि ये सब ठौर 2 के अनुवाद निकाल लिए जाँय तो original portion असली हिस्सा उस पुस्तक का कुछ रही न जाएगा…[10]

समीक्षा की ख़ूबी या ख़ामी से परे यहाँ प्रासंगिक यह है कि भट्ट ने उपन्यास में बिखरे और पिरोये भौंड़े विज्ञानवाद पर सीधी अंगुली रख दी।[11] उपन्यास वास्तव में ऐसे उपदेशात्मक भाषण से भरा हुआ था जो नैतिकता में वैज्ञानिकता को पिरोने की वकालत करते थे। रोज़मर्रा के इंसानी रिश्तों में बेकनवादी प्रयोगधर्मिता की पैरोकारी अभिव्यंजना के रास्ते कम और वैज्ञानिक व नैतिक उद्धरणों से ज़्यादा की गई थी। मसलन, किसी को मित्र बनाने या नौकरी में रखने से पहले निश्चित अवधि तक उसका प्रेक्षण-निरीक्षण करना चाहिए (जैसे प्रयोगशाला में होता है), इस परीक्षा के बाद किसी को अपना क़रीबी, नौकर, मित्र या हितैषी नियुक्त करना या नहीं करना चाहिए! अपनी पत्रिका के मार्च 1883 के अंक में भट्ट ने (शायद इस उपन्यास के अरचनात्मक और पंडिताऊ विज्ञानवाद के भरे होने के विरोधस्वरूप!) एक मनोरंजक उपन्यास के धारावाहिक प्रकाशन की शुरुआत की। *नूतन चरित्र* नामक इस उपन्यास के लेखक कोई बाबू रतन चंद्र, प्लीडर हाई कोर्ट थे। भट्ट द्वारा चुना गया उपन्यास (मेरी जानकारी में अब इसकी सिर्फ़ शुरुआती सात-आठ क़िस्तें ही उपलब्ध हैं) यूँ तो एक रोमांटिक थ्रिलर लगता है, लेकिन उसके आख्यान और शिल्प में नई प्रौद्योगिकी बहुत ही दिलचस्प अंदाज़ में अंतर्गुंफित है। मसलन, इसकी कथा किसी कमनीय रोमांटिक स्थान में नहीं, बल्कि रेल के तकनीकी-समाजी परिवेश में प्रस्फुटित होती है, जहाँ अत्यधिक आवागमन, भीड़-भाड़, शोर-गुल और धक्का-मुक्की है। एक रेलवे प्लेटफ़ॉर्म पर इत्तेफ़ाक़न नायक, नायिका से टकराता है, प्लैटफ़ॉर्म और ट्रेन में चढ़ते हुए वह नायिका से क़रीबी बढ़ाने के (कुटिल) जतन करता है, चलती ट्रेन में उससे बात करने के मौक़े ईज़ाद करता है, दूसरी तरफ़ से आने वाली ट्रेन से टक्कर के कारण होने वाली दुर्घटना से नायिका को बचाने के क्रम में उसका आलिंगन (और चुंबन) करता है और उसके दिल में अपने लिए जगह बनाने में सफल हो जाता है। इस दिलचस्प ट्रेन-कथा पर थोड़े विस्तार में चर्चा के लिए जल्दी ही वापस आते हैं।

---

[10] हमने इस उद्धरण को जस का तस रखने की कोशिश की है, सिर्फ़ कोष्ठक में दिए हुए शब्द और विराम-चिह्न हमने जोड़े हैं. यहाँ एक छोटी-सी तथ्यात्मक बात कहना लाज़िम होगा. उपन्यास की समीक्षा दिसंबर 1881 और जनवरी 1882 के अंकों में छपी, जिससे ज़ाहिर होता है कि ये उपन्यास 1881 में छपा होगा, न कि 1882 में. चूँकि पत्रिका के पहले *समीक्षा* वाले पन्नों पर छापे की अशुद्धि के कारण 1881 की जगह 1882 छपी हुई है, इसलिए शायद पहले-पहल गोपाल राय ने हिंदी उपन्यास पर लिखी गई अपनी विश्वकोषीय शोध-पुस्तक में और फिर उनका अनुसरण करते हुए अन्य विद्वानों ने इसकी छपाई का साल 1882 मान लिया. राय (1968).

[11] नकारात्मक नज़रिए से ही सही लेकिन भट्ट ने जिस बिंदु को तत्काल छू लिया था, उस पहलू पर अब तक अकादमिक शोध में ध्यान नहीं दिया है, जबकि इस उपन्यास पर ढेरों निबंध और प्रबंध लिखे जा चुके हैं. देखें कलसी (1992); तलवार (1993); डालमिया (1999).

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 61

पहले तत्कालीन सोच और कल्पनाओं में अनेक स्तरों पर आधुनिक प्रौद्योगिकी की केंद्रीयता दिखाते हुए उपरोक्त उद्धरणों के बारे में एक स्पष्टीकरण। आधुनिक प्रौद्योगिकी को सामुदायिक या राष्ट्रीय उन्नति और समृद्धि का अग्रदूत माना जाना इसकी एकतरफ़ा व स्तरीय सराहना भर नहीं था। यह तत्कालीन समाजी-तकनीकी परिकल्पना से गुँथा हुआ था, जो उत्तर भारतीय आधुनिकता के गठन और रचना में हृदयस्थ था। अभिव्यक्ति की लगभग सभी साहित्यिक-कलात्मक विधाओं में – कथा, कविता, लेख, व्यंग्य, कार्टून आदि सब में, सीधे या अन्योक्ति में, प्रत्यक्ष या दृष्टांत रूप में, बिंबों से लेकर कथावस्तु में, परिवेश और सौंदर्य के गठन में– प्रौद्योगिक आधुनिकता के निशान बिखरे मिलते हैं। ये सराहना, सम्मोहन और विश्वास की भाषा में भी अभिव्यक्त होते थे और आशंका, भय तथा तनाव की शब्दावलियों में भी। दूसरे शब्दों में, आधुनिक प्रौद्यौगिकी और उसकी संरचनाओं (इंफ़्रास्ट्रक्चर) की बिसात पर साहित्यिक-कलात्मक दस्तावेज़ों के ज़रिए आधुनिकता के अनुभव की कहानी से हम दो-चार हो सकते हैं; ऐसी कहानी जिसमें लगाव भी है और दुराव भी, भय भी है और प्रीति भी, वादा भी और वादाख़िलाफ़ी भी, ख़ुद को बदलने की चाहत भी है और बचाने की परवाह भी। कुल मिलाकर आधुनिकता के अनुभव की इस दिलचस्प कथा में पुराने से नए होने या बनने अथवा आधुनिक सब्जेक्टिविटी के निर्माण की वृहत कथा भी है।

आधुनिक तकनीकी वस्तुओं और उनकी व्यापक संरचनाओं की लंबी फ़ेहरिस्त में, ज़ाहिर है, रेलवे बहुत महत्त्वपूर्ण साबित हुआ। यह एक ऐसी बड़ी, विशाल और दर्शनीय वस्तु थी जो कथित तौर पर सभी उपभोक्ताओं को उनकी आर्थिक क्षमता के बरअक्स बराबर सुलभ थी। दो-तीन दशकों (1840-70) के छोटे से कालखंड में इसका व्यापक महाद्वीपीय विस्तार हुआ। प्रत्यक्ष और प्रभावी रूप से इसने बड़ी तेज़ी से देश के भूगोल की अनुभूति को बदला और समतल किया, भौगौलिक समझ और संवेदना में दूरगामी परिवर्तन किए। और तो और, रफ़्तार, गतिशीलता और प्रगति के वाहक के रूप में यह आधुनिकता का भव्य प्रतीक चिह्न बन गई। आख़िरकार, यह एक ऐसी भीमकाय तकनीकी वस्तु थी जिसके आगे इंसान ख़ुद को बौना अनुभव करते थे, जिसके 'पेट' में इंसान समा कर अब तक अकल्पनीय तेज़ी से चलायमान होकर रोज़ी-रोटी, तीर्थाटन या नातेदारी निभाने के लिए भ्रमण कर सकते थे, इसमें कोई भी चढ़ सकता था, या इस 'अपूर्व' चीज़ को गुज़रते हुए देख सकता था या इसके बारे में किसी और के अनुभव सुन सकता था। ट्रेन यात्रा के दौरान खिड़की के बाहर तेज़ी से घूमते, पीछे छूटते लोग-बाग़, गाँव-बस्ती आदि के मनोरम-चित्रात्मक (पैनोरमिक) परिदृश्य से इनकी एकबद्ध राष्ट्रीय कल्पना का नया अनुभव ले सकता था। ट्रेन के अंदर, इसके नए वास्तु-विन्यास के कारण यात्रियों का पाला नए अनुभवों और चिंताओं से पड़ा। एक नई व्यावहारिकता को ईजाद करने की ज़रूरत पड़ी। अपने-अपने स्टेशनों पर उतरकर चले जाने वाले, किंतु यात्रा के दौरान शरीर के अत्यंत पास, आमने-सामने बैठे, बर्थ के ऊपर सोये-लेटे, बगल में खड़े अज्ञात कुल-ख़ानदान-जाति-धर्म-देश के अजनबी स्त्री और पुरुष के साथ ट्रेन

डब्बों के क्षणिक या अल्पकालीन सान्निध्य में किस तरह पेश आया जाए? क्या बाँचा जाए? क्या छुपाया जाए? आदि। ज़ाहिर है कि रेलवे प्रौद्योगिकी की बिसात पर फैले रोज़मर्रा के ऐसे इंसानी आचार-विचार, उनकी तब्दीलियाँ, उनके विविध अनुभव और इन सबके बीच आत्म, आत्मीयता और जज़्बात के (पुन:) निर्माण की इस कथा के कुछ हिस्से हम साहित्यिक-अभिलेखागार में मौजूद दास्तानों के टुकड़ों (फ्रैगमेंट्स) के ज़रिए बेहतर बयान कर सकते हैं।

प्रौद्योगिक आधुनिकता से प्रीति और भय

मौजूदा इतिहास लेखन हमें बताता है कि हिंदुस्तान में रेल के आगमन का इतिहास उपनिवेशवाद के राजनैतिक अर्थशास्त्र और सभ्यकारी परियोजना (सिविलाइज़िंग मिशन) से जुड़ा है। अपनी संकल्पना में यह एक ऐसी सभ्यकारी प्रौद्योगिकी होने का दावा करती थी, जो समाज में भौतिक सुख-समृद्धि को बढ़ाने वाली होगी, जो सामाजिक रूढ़ियों और पूर्वाग्रहों को तोड़ेगी, अबाध उत्पादन और वितरण के मुक्त/अमूर्त्त परिवेश (ऐब्स्ट्रैक्ट स्पेस) बनाएगी, क्षुद्र सामासिक और परंपरागत मूल्यों से परे आधुनिक वैयक्तिकता व समतामूलक आचार से लैस उद्यमी और अनुशासित इंसानी देह के निर्माण में सहायक होगी, आदि।[12] इन दावों और अपेक्षाओं से परे, वास्तविकता के धरातल पर, भारत में रेल का विस्तार मूलतः उपनिवेशवाद के राजनैतिक अर्थशास्त्र से संचालित हुआ; रेलवे और उसकी संरचना में नस्ल और वर्ग भेद की गहरी निशानदेही मौजूद रही। फलस्वरूप, शुरुआती दौर में रेल के प्रति समकालीन भारतीय बुद्धिजीवियों के विविध अनुभवों और प्रतिक्रियाओं में इन बिंदुओं पर ख़ास ज़ोर दिखाई देता है। बतौर उदाहरण हम अगस्त 1883 के *भारतेंदु* में ही प्रकाशित (जिसमें 'उन्नति की गाड़ी' शीर्षक वाला कार्टून भी छपा था) और राधाचरण गोस्वामी की एक बेहद रोचक व्यंग्य-कृति *रेलवेस्तोत्र* को ले सकते हैं। लेकिन साहित्य में व्यक्त रेल अनुभव के बिंबों और उनकी सघन भावप्रवणता में घुसने के पहले कुछ बातें ध्यान में रखनी ज़रूरी हैं। रेलवे के चरित्र पर किए गए (व्यंग्यात्मक) हमलों से हमें एकतरफ़ा मायने नहीं निकालना चाहिए कि ये लेखक-बुद्धिजीवी रेल जैसी औपनिवेशिक प्रौद्योगिकी के ही ख़िलाफ़ थे।[13] वास्तव में, ये

[12] देखें केर (1995); आहूजा (2003); गोस्वामी (2004). मसलन, भारत में एक मुख्य रेलवे परामर्शी जॉर्ज मैकजॉर्ज ने कहा : 'दुनिया भर की सबसे कठोर और अनन्य बंदिशों में से एक भारत की जाति-व्यवस्था की दरो-दीवार में वाष्प-शक्ति ने चहुँ ओर से सेंध लगा दिया है. सालों से रेलवे के अहाते से जाति-पूर्वाग्रह व्यावहारिक रूप में लगभग इस क़दर मिट गया है कि सबसे पवित्र ब्राह्मण भी यात्रा की सुख-सुविधा त्यागने की बजाय जातीय बंदिशों को नज़रअंदाज़ करना पसंद करेगा.' गोस्वामी (2004) : 106 से उद्धृत. साम्राज्यवादी प्रेस में रेलवे को लेकर पश्चिम की रफ़्तार और शक्ति के प्रतीक रेल-इंजिन के महिमामंडन बनाम पूरब की स्थूल या मंदगतीय शक्ति के प्रतीक हाथी का मखौल बनाते, हिंदुस्तानियों के आलसी चरित्र का मज़ाक उड़ाते व्यंग्य और कार्टून को केंद्र में रख कर लिखा गया नितिन सिन्हा का लेख भी काफ़ी दिलचस्प है. देखें सिन्हा (2016).

[13] रेल, पुल और सड़क आदि के विकास की बेलाग सराहना के लिए हरिश्चंद्र के संपादकीय सहायक दामोदर शास्त्री के आत्मकथात्मक संस्मरण को देखिए, जिसका शुमार आधुनिक हिंदी की शुरुआती आत्मकथाओं में किया जा सकता है. दामोदर शास्त्री, *मैं वही हूँ* (बाँकीपुर : खड्गविलास प्रेस, 1886). इसके अलावे हरिश्चंद्र के रुड़की और हरिद्वार यात्रा वृत्तांतों में इंजीनियरिंग कॉलेज, बाँध, पुल, पनबिजली आदि के बहाने आधुनिक तकनीकी और विज्ञान को लेकर उनका सकारात्मक

हिंदी बुद्धिजीवियों के उस समाजी-तकनीकी परिकल्पना के आंतरिक विरोधाभास की ओर इशारा करते थे जो एक तरफ़ तो आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी (के राष्ट्रीय 'उन्नति' का मार्ग होने) की शक्ति से सम्मोहित थी, वहीं दूसरी तरफ़ इसके मौजूदा भेदभावी चरित्र और मुक्तिकारी वादों को लेकर आशंकित भी। प्रौद्योगिक वस्तुएँ तो चाहिए थीं, लेकिन जद्दोजहद थी उन्हें अपनी शर्तों पर अपनाने की, उसे सुधारने की, उसे स्थानीय और घरेलू बनाने की गुंज़ाइश को लेकर। आधुनिकता के निहायत ज़रूरी और सराहनीय प्रौद्योगिक उत्पादों से दो-चार होने के डर और प्रीति के मिश्रित भाव और बोध को *रेलवेस्तोत्र* बख़ूबी पकड़ता है।

इस तरह के व्यंग्य स्तोत्र के बारे में गोस्वामी ने स्पष्ट लिखा था कि इसका उद्देश्य शैक्षणिक है और यह विषय-वस्तु व्याप्त दोषों में सुधार की कामना मनोरंजक और ग़ैरबोझिल तरीक़े से करती है।[14] आख़िरकार स्तोत्र (या आरती) अपने पूजनीय विषय-वस्तु या चरित्र के ज़रूरी गुणों और पहलुओं का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन और अभिव्यंजन करता है। इस वर्णन के क्रम में एक-एक कर सभी गुणों का बखान करते हुए उस चरित्र (की महानता) के बारे में जानकारी दी जाती है। दैवी या पूजनीय वस्तु की जगह जब व्यंग्य रूप में किसी आमफ़हम मानवीय चरित्र या विषय-वस्तु को लाया जाता है तो वस्तु या चरित्र के (अंतर्निहित दोषों और विरोधाभासों सहित) अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन के कारण, उस चरित्र की जानकारी के अलावे इसमें आलोचना व मखौल का एक अतिरिक्त पक्ष और जुड़ जाता है।[15] कुल मिलाकर *रेलवेस्तोत्र* (या ऐसी व्यंग्य-स्तुतियाँ) एक साथ दो कार्यों का निष्पादन करते हैं। एक, ये अपनी विषय-वस्तु यानि रेल की आलोचना करते हैं। और दो, एक परदेशी और अनजान प्रौद्योगिक वस्तु का देशी और पौराणिक-परंपरागत शब्दावली में वर्णन कर उसे चिर-परिचित भी बनाते हैं। रेलवेस्तोत्र हिंदू देवी-देवताओं की तरह ही रेल की अपूर्व शक्ति और विशालता का वर्णन करता है और ट्रेन के प्रति भारतीय लोगों की उन्मत्तता और आकर्षण को भक्तों के दैवी शक्ति और अवतारों के प्रति सम्मोहन के समानांतर व्याख्यायित करता है।[16] लब्बोलुआब यह है कि रेल की दानवाकार आधुनिक

उत्साह सीधा छलकता है. रेल-यात्रा, आधुनिक तकनीकी के प्रति सम्मोहन, भारतेंदु के यात्रा-साहित्य और उभरते राष्ट्रीयता-बोध की सुंदर पड़ताल के लिए देखिए ब्युरी (2008).

[14] गोस्वामी ने इसी अंदाज़ में लिखी एक अन्य व्यंग्य-कृति *नापितस्तोत्र* (जो कि ब्राह्मणवादी दृष्टि से नाई समुदाय के जाति-बंधन के ख़िलाफ़ उठाए गए 'उच्छृंखल' क़दमों की आलोचना में लिखा गया था) के आमुख में यह कहा था. शिशिर (1990) : 36.

[15] आख़िरकार व्यंग्य अपने आप में कोई स्वतंत्र स्थापित विधा नहीं है. यह एक मोड या शैली है जो किसी पूर्व-स्थापित वाचिक या लिखित विधा या कन्वेन्शन का परजीवीनुमा इस्तेमाल कर उसे नए साहित्यिक कलात्मक मायने और अवदान देता है. व्यंग्य लेखन की विधागत विशेषता और हिंदी में उसके ऐतिहासिक-साहित्यिक पहलुओं की विस्तृत चर्चा के लिए देखें कुमार (2015). बांग्ला में बंकिमचंद्र चटर्जी के लिखे व्यंग्य-स्तोत्र की विवेचना के लिए देखें कविराज, (2000).

[16] डेविड गोस्लिंग के अवलोकन को याद करना यहाँ लाज़िम होगा कि पश्चिमी समाज की तरह भारत में आधुनिक विज्ञान की धर्मशास्त्रीय या ईश्वर मीमांसा से कोई ख़ासी तक़रार नहीं हुई. मसलन, डार्विन के जैव-विकास सिद्धांत, जो इंसानों और जानवरों के सामान्य पूर्वज होने की पैरोकारी करता था, को यहाँ के पौराणिक अवतारवाद के बरअक्स पचा लिया गया. ध्रुव रैना और सैयद इरफ़ान हबीब (1989) : 2085, से उद्धृत.

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 64

प्रौद्योगिकी के विविध पक्ष, प्रभाव और अनुभव का बहुमुखी वर्णन रेलवेस्तोत्र बहुत ही दिलचस्प और चटकीले ढंग से करता है।[17]

> हे रेल तेरी जय हो, जय हो! और गाड़ी, इक्का, नौका, डेंगी, सबकी क्षय हो! एवं हिंदुस्तानी राजाओं को अपने राज्य में तुम्हारे जाने से भय हो! और हमारे दुखों का तुम्हारे पहियों की अमूल धूल सर पर पड़ने से लय हो, लय हो!...
> हे विश्वमोहिनी! हे माया महे! जिस देश को तुमने अपने पतित पावन, चरणारबिंदों से पवित्र नहीं किया, वहाँ के लोग तुम्हारे दर्शनों के लिए, देवोदेव मानते, सरकार के द्वार पर धन्ना देते, हज़ारों रुपये का चंदा सही करते, तब तुम्हें अपने देश में पधारकर सफल जन्मा होते हैं। पर जब तुम वहाँ के व्यापार की नफ़ा अपनी किरणों से हर लेती तब वहाँ के लोग तुम्हारा नाम 'रेड' रखते और 'रलयोर्डलयोश्चैव' इस कारिका को चरितार्थ करते। अतएव तुम्हारे आदि अंत दोनों में दुःख-ही-दुःख है...
> हे सुरासुर पूजिते! तुम असुर वंश की स्वामिनी हो! तुम्हारा सिर हबड़े में है। तुम्हारे दोनों चरण दिल्ली और कराची में हैं, तुम्हारे दोनों हाथ अवध रूहेलखंड रेलवे और राजपुताना रेलवे हैं। तुम्हारी पुच्छ ग्रेट इंडिया-पेनेंसुला रेलवे है और बाकी देलावली सब तुम्हारी रोमावली है। तुम समग्र भारतवर्ष को दाब कर पड़ी हो। जिस दिन तुम्हें रुपये का पिंड न मिला कि तुमने गयासुर की तरह उठाकर हिंदुस्तान का भक्षण किया...
> हे युरोपीय कला कलानिधे! हे मानवी कारीगरी के चरम भूते! तुम सर्ग नहीं हो, क्योंकि ब्रह्मा से तुम्हारी उत्पत्ति नहीं और न रघुवंश माघ की कोई प्रकरण ही हो, रहा विसर्ग, सो वह भी नहीं क्योंकि मरीच, कश्यप, आदि ने तुम्हारे दर्शन भी नहीं किए, क्योंकि न द्विविंदु (:) ऐसा आकार है, अतएव सर्ग-विसर्ग रहित सच्चिदानंद स्वरूप हो!…
> हे दुर्गे! दुर्गति हारिणी:! तुम्हारे बहुत से देहाती भक्त तुम्हें दुर्गा का अवतार मानकर प्रणाम करते। अतएव 'या देवी सर्वभूतेषु रेलरूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमो नमः।[18]

ज़ाहिर है इस स्तोत्र में रेल एक परलोकवासी दानवनुमा अपूर्व शक्तिशाली किंतु आधुनिक शहरी मशीनी राक्षसी है। यह औपनिवेशिक सरकार का ऐसा उपहार है, जिसकी अबाध गतिशीलता ने न केवल पूर्व-आधुनिककालीन तकनीकी और संचार माध्यमों, बल्कि राजनैतिक सत्ता के लिए भी ख़तरा पैदा कर दिया है। एक ही साथ इस प्रौद्योगिकी के प्रति एक पुरज़ोर आकर्षण भी है और संदेह भी। एक तरफ़ 'उन्नति की गाड़ी' से सम्मोहन है। दूसरी तरफ़, इसके राजनैतिक आर्थिक पक्ष को लेकर चिंता भी कि यह (राष्ट्र की) 'संपत्ति की निकासी' (ड्रेन ऑफ़ वेल्थ) का माध्यम है। रेलवे तंत्र की विशालता और उसकी अतिरंजित

[17] हिंदुस्तान में ही नहीं, संसार भर में रेल आधुनिकता का भीमकाय प्रतीक रहा है और हरेक समाज में इसको लेकर रोचक प्रतिक्रियाओं और अनूठे अनुभवों को दर्ज किया गया है. मसलन, ब्रिटेन में भी रेल व्यंग्यात्मक हमले और आलोचना के केंद्र में रही है. लेकिन ऐतिहासिक-सामाजिक-राजनैतिक संदर्भ अलग होने के कारण इन आलोचनाओं का चरित्र अलग था. टेलर (2005); फ्रीमैन (1999); सिमोंस (1994).

[18] शिशिर (1990) : 40-45.

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 65

महत्वाकांक्षा का दैहीकरण दिलचस्प है जो दैत्य के अन्यीकृत (एलिगोरिकल) निरूपण में स्तोत्र या आरती के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन शैली के ज़रिए किया गया है। इसी अंदाज़ में, यह व्यंग्य-रचना समूचे रेल तंत्र को वर्ग और नस्ल-भेद से रंजित औपनिवेशिक जगह की तरह चित्रित करती जाती है और भारतीय लोगों के यात्रा अनुभव का बयान राष्ट्रवादी नज़रिए से करती है।[19] इस तरह की अन्य कृतियों को एक साथ रखकर ध्यान से देखने पर लगता है कि रेल के औपनिवेशिक अर्थशास्त्र की आलोचना तो ज़रूर हो रही थी, किंतु वह इतनी मुखर नहीं थी जितनी रेल यात्रा में होने वाली विभिन्न कष्टों और कठिनाइयों को लेकर होने वाली आलोचनात्मक बातें। यात्रा की शुरुआत से अंत तक – प्लैटफ़ॉर्म पर घुसने, टिकट ख़रीदने, ट्रेन में चढ़ने, डिब्बे में बैठने-सोने, ट्रेन से उतरने, प्लैटफ़ॉर्म से बाहर निकलने तक होने वाली धक्का-मुक्की, रेल-पेल, रेल कर्मचारी, पुलिस और गार्ड द्वारा शोषण, धाँधली और अपमान, खाने-पीने से लेकर पेशाब-पखाने की अनिश्चितता, आदि – रोज़ाना स्तर पर एहसास होने वाली बहु उल्लेखित शारीरिक-मानसिक दिक़्क़तों की अपनी वास्तविकता तो थी ही, लेकिन शायद इनके अनुल्लेखित या अर्ध-उल्लेखित सामाजिक पक्ष भी थे जो आख़िरकार भारतीय समाज की प्रौद्योगिक आधुनिकता से होने वाली जद्दोजहद को बयान करते थे।

मसलन, हरिश्चंद्र कुलश्रेष्ठ रचित और भारतजीवन प्रेस से 1884 ईस्वी में प्रकाशित प्रहसन, ठगी की चपेट में बगी की रपट में, के शुरुआती दृश्य को लेते हैं। एक उत्तर भारतीय शिक्षित ग्रामीण युवक अपनी माता, नौकर तथा नौकरानी के साथ प्लैटफ़ॉर्म पर प्रवेश करता है, फिर रेल-अनुभव की व्यथा-कथा आरंभ होती है। प्लैटफ़ॉर्म की भीड़, थोड़े समय के लिए खुलने वाले टिकट-काउंटर की धक्कामुक्की, जो कि रेल-अधिकारी, कॉन्स्टेबल और दलालों की मिलीभगत से यात्रियों को ठगने के लिए रचा जाता है, के बीच यह युवक ट्रेन में यात्रा करने के लिए आख़िरकार रिश्वत देकर टिकट ख़रीदने और फिर ट्रेन में चढ़ने में सफल हो पाता है। काशी प्रसाद खत्री रचित, रेल का विकट खेल (1883-4) का प्रथम अंक, जो हरिश्चंद्राज़ मैगज़ीन, 15 मई, 1884 में छपा था, भी इसी तरह के रेल-अनुभव को चित्रित करता है। अपनी सुंदर पत्नी के साथ यात्रा करने वाले एक देहाती युवक को टिकट ख़रीदने और ट्रेन में चढ़ने के लिए क्या-क्या पापड़ बेलने पड़ते हैं, चपरासी, टिकिट-बाबू और गार्ड से ठगाने, अपमानित होने के बाद अंततः वह रेलवे गार्ड से (पिछवाड़े में) मिले धक्के की मदद से डिब्बे में सवार हो पाता है। कभी-कभी भारतीय अनुभवों में रेल के शोषक और औपनिवेशिक चरित्र को उजागर करने के लिए यहाँ की तुलना अमेरिकी ट्रेन से भी की जाती थी।[20] बहरहाल, इन रचनाओं के मूल में ये विचार थे कि रेल और उसकी समूची संरचना और तंत्र सिर्फ़ कथनी में क़ानून के शासन में है, लेकिन करनी में ग़ैर-क़ानूनी ढंग से रेल-अधिकारियों द्वारा भेदभाव,

---

[19] इस तरह की भावनाओं और नज़रियों को हम अलग ढंग के स्रोतों में भी पाते हैं. मसलन, देखें 'रेलवे अधिकारियों का अविवेक', *हिंदी प्रदीप*, अक्टूबर 1883. जिसमें यात्रा के दौरान नस्लीय भेदभाव, समान किराया देने पर भी गोरे/युरोपीय और भारतीय यात्रियों के बीच होने वाले भेदभाव की बात उठाई गई है.

[20] 'अमेरिका तथा भारतवर्ष की रेलगाड़ियाँ', *हिंदी प्रदीप, जिल्द 31, संख्या 3*, संवत 1966 (1909).

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 66

अन्याय, और अपमानकारी तरीक़े से संचालित होते हैं। रेल डिब्बों में हाथ-पैर हिलाने की जगह भी मयस्सर नहीं होती, यात्री-उपभोक्ताओं को सामान के बक्सों की तरह ठूँस-ठेल कर चढ़ा और उतार दिया जाता है। इतना ही नहीं, रेल के डिब्बे अपने आप में जेल की तरह हैं, और यात्रा के अनुभव जेल के अनुभव की तरह, जहाँ खाने-पीने और शौचक्रिया की मूलभूत सुविधाओं पर भी आफ़त है। *रेलस्तोत्र* भी कुछ इस तरह कहता है :

> हे विकट टिकटे! हमें टिकट-बाबू न लूटें। हे भीड़-भाड़ भरिते! हम भीड़ में दबकर न मरें। हे नीलबंदर बल्लभे! हमें तुम्हारा कोई नीलबंदर न छेड़े। हे पुलिसप्रिये! हम तुम्हारे पार्षदों द्वारा पुलिस में न दिए जावें। हे मेला ठेला में महामानिनी! हमसे अभिमान मत करो। हे जेल सन्निभे! हमें चार आना जुर्माना और घंटे का जेलखाना न भुगतना पड़े... हे मल मूत्र जथार्थहि लघाहार सुसम्मते! हम जब चाहें सुतंत्र मल मूत्र विसर्जन कर सकें...[21]

रेल-पेल और (अ)व्यवस्था

रेर, रेला, रेल-पेल, आदि शब्द रेल और तीर्थ यात्रा संबंधी तत्कालीन अनुभवों के विवरण में अक्सरहाँ मिलते हैं।[22] शायद ध्वन्यात्मक समानता के कारण रेल-पेल जैसे पुराने पदों, जिसका मतलब भीड़-भाड़, धक्का-मुक्की, कोंचना, भरमार, अधिकता आदि था, का नए संदर्भों में इस्तेमाल किया जाने लगा हो। जो भी हो, रेल-पेल का भाव न केवल व्यंग्यात्मक लेखन बल्कि कथा-उपन्यास आदि विधाओं में ट्रेन यात्रा के अनुभवों के वर्णन में बहुतायत मिलता है, जिसके कम से कम दो पहलू दिखाई पड़ते हैं। एक है अज्ञात लोगों और नई या अनजान जगह में भीड़-भाड़, तेज़ी, धक्का-मुक्की, घुटन और अराजकता का माहौल; और दूसरा, ऐसे माहौल में अपने आप और आपे को बचाना और मज़बूती से थामे रखना। अनियंत्रित भीड़, तेज़ी, धक्का, अराजकता, अव्यवस्था तथा उससे जूझने की कोशिश को हम शायद आधुनिकता के विविध अनुभवों और आकांक्षाओं की अन्योक्ति की तरह दर्ज कर सकते हैं। स्पष्ट और गौण दोनों स्तरों पर साहित्यिक निरूपण में रेल-पेल की अपरिहार्य समस्या में बहुतेरी चिंताएँ समाहित नज़र आती हैं। जैसे, अनजान सांसारिक गति से संचालित नए और अपरिचित स्थान, संस्थान और लोगों के बीच कैसा बर्ताव किया जाए या कैसे तालमेल बैठाया जाए! व्यंग्य रचनाओं में भीड़, अव्यवस्था और अराजकता या रेल-पेल की दिक़्क़तों के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों में अपरिचित नज़र और अजनबी स्पर्श के कारण अपने भोजन, जाति और स्त्री की शुद्धि और रक्षा के भंग होने के ख़तरे, इस ख़तरे के मद्देनज़र उत्पन्न भय और चिंता बहुधा झलकती है। बक़ौल वुल्फगंग शिवेलबुश, विभिन्न देशों में रेल बाधाओं-बंधनों, ऊँचाई-निचाई, खाई-दूरी को पाटने वाली भीमकाय यांत्रिक संरचना की तरह मानी गई, ऐसे सामान्य

[21] शिशिर (1990) : 45.

[22] यह सर्वविदित है कि रेल और तीर्थ यात्रा का आधुनिक इतिहास एक-दूसरे से गहरे जुड़े हैं और रेल ने पुराने तीर्थ स्थलों और तीर्थाटन को नया आयाम दिया. देखें मैक्लीन (2003).

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 67

बोध या धारणा के विकसित होने का एक कारण इस प्रौद्योगिक संरचना के अपने डिज़ाइन में भी गुम्फित था – रोडवे, जो प्राकृतिक भूरूप (टोपोग्राफ़ी) का अनुसरण करती है, के विपरीत रेलवेलाइनें वस्तुतः विषम तलों का समतलीकरण करती हैं, रेल-गुफाएँ (टनेल) पहाड़ी ऊँचाइयों को भेदती और छेदती हैं, रेल-पुल नदी-तीरों को जोड़ते हैं।[23] जो भी हो, रेल के जाति-भंजक होने को लेकर उठने वाली चिंता और ख़ौफ़ आत्मकथाओं और संस्मरणों तक में बख़ूबी दर्ज मिलता है। 1864 ई. में अपने वेदमर्मज्ञ और संस्कृत आचार्य पिता के साथ कराड (सतारा, महाराष्ट्र) से काशी की पहली यात्रा में दामोदर शास्त्री (ज.1848 ई.) ने रेलगाड़ी न लेकर बैलगाड़ी का इस्तेमाल किया। क्योंकि, उनके पिताजी जो अपने देहावसान के लिए काशी प्रवास को जा रहे थे, को ट्रेन में अपने भोजन और जाति के अशुद्ध हो जाने का ख़तरा था।[24] यह महज़ इत्तेफ़ाक़ नहीं कि व्यंग्य रचनाओं में भी रेल की औपनिवेशिकतामूलक नस्ल और वर्ग भेदी प्रकृति की आलोचना के संग-संग रेलडब्बों में सामाजिक या जाति-भेद को (पुनः) बहाल करने की ख़्वाहिश भी छलक उठती है। छुआछूत के न बरते जाने के कारण उसकी तुलना कभी बार-गर्ल से तो कभी जाति-उदासीन धार्मिक संप्रदायों से करके रेलवे का मखौल उड़ाया जाता था। इसे रेलस्तोत्र कुछ इस तरह से बयान करता है :

> हे जंगम जगन्नाथ रूपिणी! तुम्हारे नीचे नील चक्र और ऊपर भैरवी चक्र है। क्योंकि तुम्हारे मंदिर में रत्न सिंहासन पर बैठकर हिंदू-मुसलमान, क्रिस्तान, सब बराबर बैठते और एक साथ भोजन करते। अतएव 'जगन्नाथ के भात को जगत पसारै हाथ' और 'प्रवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णाः द्विजायतः' इन दोनों श्रुतियों ने तुम्हारा ही कलियुग से डरकर आश्रय लिया है... हे विश्वरूपे! विशेष कहाँ तक तुम्हारी स्तुति करैं, तुम बार-वनिता हो। तुम्हारे यहाँ सब का निर्वाह है। तुम अशरण शरण हो...[25]

वहीं *रेलवे दोकट* जैसी लेखनी में तो सीधे-सीधे ब्राह्मणवादी विषवमन भी नज़र आ जाता है। रेलवे नियमों के दोग़ले चरित्र, यानि (नस्लीय) अलगाव की युरोपीय परंपरा को बढ़ावा किंतु (जातीय) अलगाव की हिंदुस्तानी परंपरा को ख़ारिज करते रेलवे क़ानून पर तंज़ करते हुए यह व्यंग्य रचना कुछ यूँ कहती है :

> हिंदू मुसलमानों को भंगियों से अत्यंत घृणा है, पर वह जबरन उनके पास बिठलाए जाएँगे।[26]

---

[23] शिवेलबुश (1977, 2014).

[24] शास्त्री (1886) : 3. विदित हो कि दामोदर शास्त्री भारतेंदु हरिश्चंद्र के सम्पादकीय सहकर्मी भी रहे और कई वर्षों तक *बिहार-बंधु* प्रेस (पटना) के संपादक भी.

[25] शिशिर (1990) : 44-45.

[26] *रेलवे दोकट* पहली दफ़ा *भारतेंदु*, 27 जुलाई, 1884 में प्रकाशित हुआ. शिशिर (1990) : 49.

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 68

इस तरह के उदाहरण अपने आप में उन उत्साही उपनिवेशवादियों के बयानों के कांउटर-प्वाइंट भी हैं जो रेल को जाति-भंजक बता रहे थे। दरअसल ये बदलती परिस्थितियों के अनुकूल जाति-पालक आचारों की पुनर्निर्मिति की पुरज़ोर चाहत का इज़हार करते नज़र आते हैं। अन्य वाक़यात्मक साक्ष्यों के हवाले से, जिसकी झलक हम आगे देखेंगे, हमें जाति-पालक कर्म-व्यवहारों का निजीकरण होता भी नज़र आता है। खान-पान, जाति-धर्म संबंधी शुद्धता या छुआछूत के पालन की अनिश्चितता और दुश्चिंता के अलावे रेलवे स्टेशनों और रेलगाड़ी को संभ्रांत (हिंदू) महिलाओं के लिए असुरक्षित, ख़तरनाक और नैतिक भ्रष्टाचार की जगह भी समझा गया, क्योंकि इन स्थानों में उनका सामना निम्न जाति-वर्गीय महिलाओं, अनजान (छिछोरे) यात्रियों, और रेलवे कर्मचारियों से हो सकता था। यह मर्दानी चिंता और डर न केवल *रेल का विकट खेल* जैसी रचनाओं में, बल्कि सरकारी अधिकारियों को दी गई अनगिनत दर्ख़्वास्तों और संपादकों के नाम लिखी खुली चिट्ठियों में भी काफ़ी तादाद में मिलते हैं जो भद्र महिलाओं के लिए प्लैटफ़ॉर्म पर प्रतीक्षा, ट्रेन में उतरने-चढ़ने-बैठने के बंदोबस्त ऐसे ढंग से करवाना चाहते थे कि उन्हें अनजान मर्द की निगाहों और निम्न कुल-ख़ानदान की औरतों की नज़दीकी से बचाया जा सके।[27] सिर्फ़ एक उदाहरण के लिए अप्रैल 1881 के अंक में छपे *हिंदी प्रदीप* संपादक के नाम लिखे पत्र को देख सकते हैं जिसमें हरदेव प्रसाद नामक एक व्यक्ति ने अपनी ऐसी ही शिकायत को सरकार बहादुर तक पहुँचाने की बात की।

अजनबी लोग-बाग़ और इश्क़-मोहब्बत की नई (आख्यानिक) संभावनाएँ

एक ओर जहाँ रेलवे के प्रति भीड़, अराजकता और अनचाही नज़दीकियों को लेकर ब्राह्मणवादी मर्दानी चिंताओं का उभार दिखता है, वहीं दूसरी तरफ़ अनजाने लोग-बाग़ से आमना-सामना होने की असीमित आख्यानिक संभावनाओं के प्रति एक दिलचस्प और रोमांचक दृष्टिकोण का आगमन होता भी नज़र आता है। आरंभिक औपन्यासिक कथा-मीमांसा में रेलवे के स्पेस का पुनर्नियोजन और देसीकरण (डॉमेस्टिकेशन) ऐसे स्थान या मंच की तरह होता है, जहाँ 'नूतन चरित्र' के लिए न केवल आधुनिक रोमांटिक मोहब्बत की, बल्कि प्रचलित यौनिक-सामाजिक दायरे के उल्लंघन की भी अपूर्व संभावना थी। आख़िरकार *हिंदी प्रदीप* में किस्तवार प्रकाशित 1883 का रोमांटिक थ्रिलर स्वघोषित रूप से नए या आधुनिक स्त्री-पुरुष की कथा कहता है। इसके मुख्य किरदार विवेक राम और चित्रकला, शिक्षित युवक और युवती हैं जो अपनी-अपनी यात्राओं के क्रम में महज़ इत्तेफ़ाक़न उत्तर भारत के हरथला (मुरादाबाद) रेलवे स्टेशन पर मिलते हैं और यात्रा के दौरान एक-दूसरे के क़रीब आते हैं और फिर (अंततः मन ही मन) इश्क़ कर बैठते हैं। उपन्यास का प्रासंगिक सार इस

[27] रेलवे कॉलोनियों में रहने वाले ग़ैर-बीवीशुदा गोरे पुरुषों के देशी महिलाओं के साथ बनते दैहिक-वैवाहिक रिश्तों के आलोक में नस्लीय-शुद्धता को लेकर मिलती-जुलती नस्लीय-मर्दवादी चिंता अंग्रेज़ अधिकारियों में भी दिखती है. देखें, बेयर (1994).

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 69

प्रकार है – दिल्ली शहर के दो लड़के नायक विवेक और उसका दोस्त दौलत हरथला स्टेशन पर दिल्ली जाने वाली ट्रेन के इंतज़ार में झक मार रहे हैं, और छोटे स्टेशन पर मस्ती, मज़े और लड़कियों के न होने की गुंजाइश को लेकर शिकायत कर रहे हैं। जल्दी ही उनकी बातचीत पास के आवासीय महिला विद्यालय और उसकी छात्राओं के साथ मज़े करने की गुदगुदाती संभावनाओं की तरफ़ मुड़ जाती है। अचानक एक ख़ूबसूरत लड़की, जो उसी स्कूल की छात्रा थी, एक उम्रदराज़ नौकरानी के साथ ट्रेन पकड़ने पहुँचती है। नायक के अनुरोध पर उसका दोस्त नौकरानी को घूस देकर लड़की के बारे में जानकारी और उसके साथ एक ही डिब्बे में सफ़र करने की संभावना तलाशता है। लड़की को छोड़ने आई नौकरानी घुड़की देकर नायक के दोस्त को भगा देती है, लेकिन दूर खड़े नायक को नायिका उत्सुकता से बस एक नज़र देख लेती है। नायिका की एक नज़र ही नायक के दिल की धड़कन बढ़ा देती है। शरारती शहरी लड़के जानबूझ कर उसी डब्बे में चढ़ते हैं, जिसमें लड़की प्रवेश करती है, लेकिन इन लड़कों को नज़रअंदाज़ करने के लिए वह किताब पढ़ने में मशगूल हो जाती है। नायक अपने दोस्त से कुछ करने की गुज़ारिश करता है क्योंकि वह उसकी सुंदरता से घायल है और उससे नज़दीकी बढ़ाने को लेकर बेचैन। नायक का दोस्त खलनायक बनने का स्वांग रचता है, वह लड़की को छेड़ता है, अश्लील बातें करता है और फिर जबरन उसके हाथ पकड़ता है। नायक अपनी दोस्ती तोड़कर, दोस्त को पीटकर नायिका को बचाता है, और फिर लड़की उसको धन्यवाद देती है। नायक विवेक और नायिका चित्रकला एक-दूसरे से औपचारिक रूप से परिचित होते हैं, और पता चलता है कि दोनों ही अच्छे कुल-ख़ानदान से हैं। नायिका पूर्व-सैनिक की बेटी है, जिसका लालन-पालन किसी अंग्रेज़ अफ़सर ने किया था क्योंकि मृतक सूबेदार पिता ने 1857 के ग़दर में उसकी जान बचाई थी। विवेक के पिता एक बड़े व्यापारी थे जिनके पूर्वज मुग़लों के ख़ज़ांची हुआ करते थे। फिर अचानक विवेक को एहसास होता है कि ट्रेन टक्कर के कारण दुर्घटनाग्रस्त होने को है। वह चित्रकला को झटके से अपनी बाँहों में भर लेता है, अपने दिल की भावना का इज़हार करता है और अगले क्षण ट्रेन-दुर्घटना हो जाती है। हैरान और सन्न चित्रकला को एहसास होता है कि वह एक अजनबी पुरुष की गर्म देह के नीचे पड़ी है, और यह भी कि उसकी जान बच गई है, उसे विवेक ने बचा लिया है, जो ख़ुद बेहोश और घायल पड़ा है। जल्दी ही विवेक को रेलवे के डॉक्टर और उसका दोस्त दौलत वहाँ से निकालते हैं और अस्पताल ले जाते हैं, और चित्रकला ज़रूरी काम होने के कारण घायल नायक की सेवा न कर पाने के लिए माफ़ी माँग कर दूसरी ट्रेन से दिल्ली को रवाना हो जाती है। रवानगी से पहले वह भी अपनी दिली भावना का इज़हार करती है।[28]

[28] इसके बाद कथानक दिल्ली की ओर चला जाता है, जहाँ नायिका को अपने भाई के साथ मिलकर बीमार अंग्रेज़ अभिभावक (जिसने इन दोनों को पाला-पोसा और शिक्षा-दीक्षा मुहैया कराई थी) से मिलने लाहौर जाना होता है. लेकिन आकस्मिक परिघटनाओं और संयोग से भरे कथानक में नया मोड़ आ जाता है. चित्रकला का अपहरण हो जाता है, नायक विवेक कुछ दिनों बाद दिल्ली आकर अपने प्यार की तलाश करता है और नायिका के दुखी भाई से टकराता है. अंततः विवेक अपनी बुद्धि और शौर्य से अपनी महबूबा को अपहरणकर्त्ता के चंगुल से आज़ाद करा लेता है. उपलब्ध *हिंदी प्रदीप* की फ़ाइलों में इसके

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 70

ज़ाहिर है, इस दिलचस्प आख्यान में रेलवे स्टेशन और रेल यात्रा में अनजान लोग-बाग़ और अजनबी से सामना और नज़दीकी के मौक़े का नया और बदलावमूलक इस्तेमाल होता नज़र आता है। 1880 के दशक में किसी अजनबी युवक और युवती के रोमांटिक प्रेम और मिलन की यथार्थवादी दास्तान का विश्वसनीय और सुगम बयान शायद रेलवे के आधुनिक तकनीकी-समाजी परिवेश के अलावे और कहीं भी करना मुश्किल था। ग़ैर-रिश्तेदार, विजातीय, अजनबी स्त्री-पुरुष के आधुनिक रोमांटिक प्रेम, दैहिक नज़दीकी, यौनिक चाहत, आदि की (साहित्यिक) अभिव्यक्ति, जो तत्कालीन सामाजिक बंधनों-मान्यताओं की हदों का उल्लंघन करती थी, वास्तव में चलती ट्रेन में या रेल तंत्र के बृहत्तर तकनीकी-समाजी माहौल में ही घटित होती है।[29] ग़ौरतलब है कि रेल-दुर्घटना से (नायिका की जान को) होने वाले नुक़सान को रोकने की हीरो की क्षमता और क़ाबिलियत एक नए क़िस्म के मर्दानेपन के उभार की निशानदेही करती है। वह न केवल आधुनिक द्रुतगामी प्रौद्योगिकी के ख़तरे को नियंत्रित करने की कोशिश करता है बल्कि अपने पुरुषत्व का प्रदर्शन (पाठकों के लिए यद्यपि यह प्रदर्शन नाटकीय या फ़रेबी था) कर रेलगाड़ी के अंदर एक अबला युवती की रक्षा करता है, ट्रेन-डब्बे को सुरक्षित और रिहाइशी जगह में तब्दील कर देता है, अजनबी हसीना का दिल जीत लेता है।[30]

यहाँ दो बिंदु दर्ज करने लायक़ हैं। एक, रेल की तकनीकी-समाजी संरचना के बहाने नए क़िस्म के ऐंद्रिक सौंदर्य बोध की रचना की कोशिश – ऐसा सौंदर्य जिसके गठन और परिचालन में मॉडर्न कॉमोडिटी (आधुनिक उपभोग की वस्तुएँ) और टेक्नो-इंडस्ट्रियल आर्टीफ़ैक्ट्स (मशीननिर्मित शिल्प की वस्तुएँ) केंद्रीभूत नज़र आते हैं।[31] दो, इसमें रेलवे प्रौद्योगिक संरचना के नए या अनजान और अराजक स्पेस को एक सचेत साहित्यिक-राजनीतिक प्रयास के तहत अपनाने और उसे एक व्यवस्थित, सुरक्षित, जानी-पहचानी जगह में बदलने का प्रयास और प्रतीकात्मक चाहत दिखती है। ऐसी चाहत जो 'नूतन चरित्र' के ज़रिए ही (आख्यानिक स्तर पर) मुमकिन हो पाती है। एक आधुनिक मर्द/नायक जो रेल-पेल, असुरक्षा, अराजकता और उनसे उपजी चिंता और भय से भरे माहौल में हस्तक्षेप कर व्यवस्था

बाद की क़िस्त मुझे मयस्सर नहीं हो पाई. पहले नौ अध्यायों के लिए देखें *हिंदी प्रदीप* मार्च, अप्रैल, जून, जुलाई, अगस्त और अक्टूबर 1883 के अंक. रेल-परिवेश केंद्रित आधुनिक रोमांटिक मोहब्बत के कथानक वाली एक और दिलचस्प कृति राधाचरण गोस्वामी की *सौदामिनी* है, जिसे उन्होंने 'नवन्यास' की संज्ञा दी. यह साल 1891 में *भारतेंदु* के जनवरी और फ़रवरी अंक तथा मार्च-अप्रैल-मई-जून के संयुक्तांक में किस्तवार छपा था. पुनर्मुद्रित संस्करण के लिए देखें शिशिर (1990) : 221-34. मतलब, *नूतन चरित्र* कोई अपवाद नहीं था.

[29] इस उपन्यास के दो किस्तों का शीर्षक 'चलती रेल' है.

[30] अंग्रेज़ी नाटक व सिनेमा कथानकों के संदर्भ में ट्रेन दुर्घटना, हीरो के हस्तक्षेप और बचाव आदि के अप्रस्तुत विधान (ट्रोप) को समझने के लिए देखें डाली (1998).

[31] इसकी विस्तृत चर्चा इस पर्चे के हद में मुमकिन नहीं, लेकिन इसे दर्ज करना ज़रूरी है. क्योंकि इस नए क़िस्म के ऐंद्रिक-सौंदर्य की रचना और बोध *परीक्षा गुरु* में भी स्पष्ट झलकता है, जिसके शुरुआती पन्नों में बेल्जियन और फ्रेंच काँच तथा अन्य आधुनिक उपभोग की वस्तुओं के वर्णन मिलते हैं, जिन्हें नायक ख़रीदने और दिखाने की चाहत रखता है.

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 71

क़ायम कर सकता है। तकनीकी-समाजी स्थानों और संरचनाओं के ख़तरे, अनियंत्रित तेज़ी और परेशानी पर क़ाबू कर वह उसे इतना नियंत्रित और अंतरंग बना सकता है कि (महिलाओं के लिए) वह घर जैसा हो जाए। *आदर्श हिंदू* नामक एक परवर्ती उपन्यास में ऐसी ही चाहत और उसकी पूर्ति का प्रयास उसके नायक के ज़रिए होता है। सपाट शीर्षक वाले इस साहित्यिक रूप से उचाट किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से दिलचस्प उपन्यास के लेखक बंबई के *श्री वेंकटेश्वर समाचार* के सह-संपादक लज्जाराम मेहता थे, घोषित रूप से सनातनी ब्राह्मण, गोरक्षा और हिंदी भाषा के अग्रणी पैरोकार, बाल-विवाह, वर्णाश्रम और 'मुसलमानी अत्याचार का अंत करने वाली' अंग्रेज़ी हुकूमत के घोर समर्थक थे।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा और इंडियन प्रेस, इलाहाबाद द्वारा संयुक्त रूप से 1914 ईस्वी में प्रकाशित *आदर्श हिंदू* में रेलवे के अनुभव का बयान बहुत ही रुचिकर है। शिक्षामूलक और ज्ञानबाँटू उद्देश्य से लिखा गया यह (ब्राह्मणवादी) उपन्यास मूलतः एक ऐसे आम आधुनिक ब्राह्मण पुरुष के रोज़मर्रा के जीवन और कृत्य की दास्तान है जिसमें आदर्श हिंदू के सर्वगुण (पूर्व!) मौजूद हैं। नायक पंडित प्रियनाथ एक स्वाभिमानी ब्राह्मण है, वह अंग्रेज़ी साहित्य में एम. ए. है, किसी ज़मींदारी में कोर्ट ऑफ़ वॉर्ड का मैनेजर है, वह एक मुसलमान-विरोधी, अंग्रेज़-समर्थक, कट्टर गौसेवक तथा वर्ण-व्यवस्था, मूर्ति-पूजा और कर्मकांड में विश्वास रखने वाला आदमी है। उसकी स्त्री प्रियंवदा एक ऐसी शिक्षित, कर्तव्यपरायण और सुंदर नारी है जो पति के अलावे हर अजनबी मर्द की नज़र, नज़दीकी या सोहबत पर संदेह करती है। वह अपनी पत्नी से बेहद प्यार करता है, उसके साथ प्रेम-प्रवास (हनीमून) पर जाता है और माता-पिता को तीर्थ-यात्रा पर ले जाता है। कथानक और चरित्र रेलवे लाइन के संग-संग तीर्थस्थलों के भूगोल का भ्रमण करते हुए उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों (जैसे प्रयाग, गया, काशी, आदि) के इर्द-गिर्द घूमते हैं और अच्छे व आदर्श हिंदू होने के गुण, हिंदी भाषा की महानता आदि का बखान करते हुए समाज, देश और दुनिया के बारे में अपने विचार व मंतव्य पेश करते हैं। मैं उपन्यास-चर्चा रेलवे-अनुभव की दृष्टि से सीमित करके पेश करूँगा। उपन्यास के चरित्र और कथानक जैसे ही रेलवे परिसर में पहुँचते हैं, उनके लय-ताल बदलने या चरमराने लगते हैं। रेल-पेल के कारण (उपरोक्त प्रहसनों की तरह ही) डिस्लोकेशन और डिस्ओरिएंटेशन का भाव हावी हो जाता है, जैसे कि नए द्रुतगामी इंफ्रास्ट्रक्चर के लिए ज़रूरी आचार-व्यवहार और ऐंद्रिक माँगें (सेंसरी डिमांड) रेलगाड़ी और स्टेशन के बाहर अज्ञात हों। ऐसे ही माहौल में आदर्श आधुनिक हिंदू नायक आगे आता है, ज़िम्मेदारी लेता है, अनुकरणीय कार्य और बातों के माध्यम से परिस्थिति को क़ाबू में कर व्यवस्था क़ायम करता है। व्यंग्यात्मक और आत्मसंस्मरणात्मक रचनाओं के छुआछूतधर्मी शुद्धतावादी ब्राह्मण मर्दों के विपरीत, पंडित प्रियनाथ न केवल सहजता से भीड़-भाड़ में रेल यात्रा करता है बल्कि सक्रियता से वहाँ फैली अव्यवस्था को दुरुस्त करने की कोशिश भी करता है। भोजन, स्पर्श आदि से संबंधित आचरणों का उसने शायद निजीकरण कर लिया है। वह ख़ुद अपना लोटा-डोरी लेकर चलता है और ट्रेन में या स्टेशन पर खाना नहीं खाता। वह या उसका परिवार ट्रेन

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 72

से उतरने के बाद बिना स्नान किए खाना नहीं खाता। किंतु, जो ऐसा नहीं करते हैं, उनसे कोई शिकवा-शिकायत भी नहीं करता। एक प्रसंग में कर्मचारियों की हड़ताल की वजह से ट्रेन यातायात में देरी और स्टेशन पर फँसे भूखे-प्यासे यात्रियों के बीच मचे कोहराम का सामना करता है तो वह भीड़ को अनुशासित करता है। रेलवे अधिकारी की अनुपस्थिति में आदर्श हिंदू नायक परंपरागत क्षत्रिय रूप में (न जाने कहाँ से!) तलवार निकाल कर कुएँ पर झगड़ती भीड़ को ललकारता है, भीड़ सहम कर क़तारबद्ध हो एकाएक बिना धक्का-मुक्की के पानी ले पाती है। वह पास के गाँव जाकर एक परिवार से (जहाँ पिछली रात शादी का भोज था) खाना-मिठाई लेकर स्टेशन आता है और भूखे यात्रियों में बँटवाता है। रेलवे जंक्शन पर तार भिजवा कर ट्रेन यातायात दुरुस्त करवाने में मदद करता है। दूसरे प्रसंग में वह भीड़ से एक चोर को, जो उसकी पत्नी का सामान लेकर भागने की कोशिश करता है, पकड़कर पुलिस के हवाले करता है। एक और प्रसंग में उसकी आदर्श पत्नी एक भले दिखने वाले पुरुष के द्वारा भीड़ में किए स्पर्श और उसकी गंदी नज़र का प्रतिकार करने के लिए ज़नाने डब्बे की जगह अपने पति के साथ सफ़र करना बेहतर बताती है।

बहरहाल, दोनों उपन्यासों में, चाहे वह उपदेशात्मक बड़बोलेपन से भरा (*आदर्श हिंदू*) हो या मनोरंजक प्रेमकहानी वाला (*नूतन चरित्र*), सीधे या परोक्षतः महिलाओं से होने वाली छेड़-छाड़, ज़बर्दस्ती या उनको घूरना-ताड़ना आदि को आम घटनाओं की तरह दर्ज किया गया है। इस आलोक में इन उपन्यासों में एक ऐसे पुरुषत्व के गठन का आग़ाज़ दिखता है जिसके सुरक्षा-क्षेत्र में रेलवे का ख़तरनाक परिसर (घर जैसे) सुरक्षित स्थान में तब्दील हो जाता है, जिससे महिलाएँ आराम से यात्रा कर पाती हैं। हालाँकि, रेलवे को अपनाने और उसके घरेलूकरण के प्रतीकात्मक साहित्यिक प्रयास कई अन्य रूपों में भी दिखते हैं। जैसे, एक महिला लेखक के काफ़ी अलग और दिलचस्प निरूपण में रेल को न केवल पुरुषों बल्कि स्त्रियों के लिए भी गॉसिप और हँसी-मज़ाक़ के स्पेस की तरह दर्ज किया गया है। राजेंद्रबाला घोष उर्फ़ बंगमहिला द्वारा लिखी वर्ष 1906 के सरस्वती में छपी *दुलाईवाली* एक ऐसी ही कहानी है।[32] इस कहानी में एक आधुनिक भद्र पुरुष चलती ट्रेन में अपने सामने घूँघट में बैठी अकेली स्त्री की सुरक्षा को लेकर परेशान है। कहानी के अंत में पता चलता है कि पर्दानशीन अकेली स्त्री और कोई नहीं बल्कि उसके मित्र की पत्नी है, और ऊपर बर्थ पर छिपे अपने पति के साथ मिलकर उसने इस भद्र-पुरुष को उल्लू बनाया है। स्पष्ट तरीक़े से यह कहानी स्त्रियों के प्रति पुरुषों की कृपा-रक्षा-भावजनित चिंता का मज़ाक़ उड़ाती है, और शायद यह भी दिखाती है कि रेलयात्रा स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिए ही मज़ेदार मौक़ा हो सकता है। लेकिन इस क़िस्म के उदाहरण कम और बिरले ही मिलते हैं। अधिकतर, मर्दानी नज़र और स्पर्श से (संभ्रांत मध्यवर्गीय) महिलाओं को होने वाली परेशानी का ही ज़िक्र करते हैं।

[32] पांडेय (2006) से उद्धृत.

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 73

स्त्रियों के ट्रेन अनुभव और हिंदुस्तानी मर्दों की (व्यभिचारी) नज़र और रवैये में सुधार का प्रश्न, ज़ाहिर है जल्दी ही रेलवे आवाजाही और गतिशीलता का एक आम स्थापित माध्यम हो चला था। इसलिए 1920 के बाद से ख़ास तौर से, सार्वजनिक स्थानों में या घर के बाहर निकलने वाली स्त्रियों के प्रति आम हिंदुस्तानी पुरुषों की घूरती-छेड़ती निगाहें और उनके यौन-उत्पीड़क रवैये की अधिकतर आलोचनाएँ और (फलतः) स्त्री-पुरुष संबंधों में सुधार हेतु मर्दों के रवैये में परिवर्तन की ज़रूरत पर ज़ोर देती हुई अपील अमूमन रेलवे स्टेशन या प्लैटफ़ॉर्म जैसी जगहों में अवस्थित दिखती है।[33] इसका मतलब यह नहीं निकाला जाना चाहिए कि रेल-पेल और उससे जुड़ी अन्य समस्याएँ और आलोचनाएँ मसलन रेलवे अफ़सरों, पुलिस, सरकार आदि की ज़्यादतियाँ अब नहीं हो रही थीं। वे तो अभी भी लगातार जारी थीं जो संपादकों के नाम लिखी चिट्ठियों, रिपोर्टों और कार्टून वग़ैरह में आसानी से देखी जा सकती हैं।[34] हाँ, उसमें कुछ तत्कालीन राष्ट्रवादी उभार के तत्त्व ज़रूर जुड़ गए। मसलन, देखिए (चित्र1) 'हिन्दोस्तान की रेलगाड़ी का तीसरा दर्जा' शीर्षक वाला कार्टून। यह सीधे-सीधे रेल-पेल की दिक़्क़त और उसके कारण महिलाओं को होने वाली विशेष परेशानी का ('भड़काऊ') चित्रण करता है। एक अंग्रेज़ीनुमा रेल अधिकारी लतियाकर यात्रियों को ट्रेन में ठूँस रहा है, जिससे भगदड़ जैसी स्थिति पैदा हो रही है। पुरुष तो किसी तरह चढ़ पा रहे हैं, किंतु महिला गिरती (और चोटिल होती) नज़र आ रही है। ज़ाहिर है, यहाँ रेल की सवारी में महिला के बेइज़्ज़त और चोटिल होने की संभावना पुरुषों के मुक़ाबले अधिक दिखाई गई है। इस तस्वीर में एक और बिंदु ग़ौरतलब है, जो अमूमन लिखित या साहित्यिक दस्तावेज़ों में सीधे-सीधे संप्रेषित नहीं हो पाता। अंग्रेज़ अफ़सर की लताड़ और ज़बर्दस्ती के कारण आम भारतीय लोग एक-दूसरे के क़रीब आ रहे हैं या मजबूरीवश नज़दीकी अपना रहे हैं। इन अतिरिक्त अर्थों में यह रेल-पेल के उन्नीसवीं सदी वाले विवरणों से थोड़ा हट कर भी है। दूसरे शब्दों में, तत्कालीन राष्ट्रवादी तड़के से लैस इस कार्टून में तीसरे दर्जे से सफ़र करने वाले, यानि आम भारतीय स्त्री-पुरुष, औपनिवेशिक ज़्यादतियों के शिकार हैं और शायद इसलिए साथ आने, या राष्ट्रवादी एकजुटता के लिए विवश और प्रयासरत भी। रेलयात्रा के अनुभव, कुल मिलाकर, एक नए राष्ट्रीय समुदाय की कल्पना में मदद कर रहे हैं, जो शायद बिना आक्रामक औपनिवेशिक संदर्भ के मुमकिन नहीं थी!

---

[33] नारी-सुधार और नए नारीत्व को लेकर बहुत लोगों द्वारा ढेरों कुछ लिखा जा चुका है, इसलिए मैं सिर्फ़ पुरुषों के सुधार या नई मर्दानगी की तलाश करते उदाहरणों पर ही फ़ोकस रखूँगा.

[34] एक और उदाहरण के लिए देखें 'रेल यात्रा में स्त्रियों को कष्ट', चाँद, अक्टूबर 1924.

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 74

चित्र 1 हिन्दोस्तान की रेलगाड़ी का तीसरा दर्जा (*सुधा*, मई 1928)

राष्ट्रवादी उभार के नए दौर ने एक तरफ़ रेल के औपनिवेशिक चरित्र और उसके अनुभव को (उपरोक्त कार्टून के ज़रिए) नए नज़रिए से परखा। दूसरी ओर, स्त्री-शिक्षा, राष्ट्र-निर्माण और राष्ट्रीय आंदोलनों में स्त्रियों के घर से बाहर निकलने और निकालने की वकालत करने वाले हस्तक्षेपों के फलस्वरूप बाहर आने-जाने या सार्वजनिक स्थलों में स्त्रियों द्वारा सामना की गई समस्याओं की चर्चा के तहत भारतीय पुरुष और पुरुषत्व की आलोचना और सुधार की बात भी होने लगी। इन्हीं परिवर्तनकारी परिघटनाओं के बृहत्तर संदर्भ में स्त्रियों की रेल यात्रा के अनुभवों और उसके बहाने भारतीय मर्दानगी की समस्याओं और उनके सुधार की चर्चा ज़ोर-शोर से होने लगी। अब स्पष्ट तौर पर न केवल अंग्रेज़ या भारतीय रेल-अधिकारी, या रेलवे स्टेशन के बाज़ारू और दर्शनीय-पर्यटनीय माहौल में फिरने वाले आम आवारा लड़के, बल्कि मध्यवर्गीय शिक्षित पुरुषों को भी सुधारवादी आलोचना का हिस्सा बनाया जाने लगा। सार्वजनिक, खुली जगहों या यात्राओं में नवागंतुक बेपर्द शिक्षित महिलाओं की दिक़्क़तों के बरअक्स पुरुषों से सीधे तौर पर अपना चाल-चलन बदलने की अपील की जाने लगी, क्योंकि बिना उनके बदले रेल या किसी अन्य सार्वजनिक स्थान को महिलानुकूल (वीमेन-फ्रेंडली) नहीं बनाया जा सकता था। गहराई से समझने के लिए देखते हैं 1920-30 के दशक में छपे कुछ और कार्टून, जो थोड़ी-थोड़ी भिन्नता से इसी एक मुद्दे को बार-बार उभारते हैं।

'हमारे रेलवे स्टेशनों का दृश्य' में पर्दा न करने वाली शहरी मध्यवर्गीय हिंदू युवतियाँ ट्रेन से प्लेटफ़ॉर्म पर उतरकर बाहर जाती दिखाई दे रही हैं, जिन्हें प्लैटफ़ॉर्म पर खड़े और ट्रेन में खिड़कियों से झाँकते उच्च, मध्य और निम्न सभी वर्गों के पुरुष (कामुक) निगाहों से घूर रहे हैं। कुछ (देहाती) महिलाएँ भी दूर प्लेटफ़ॉर्म पर बैठी नज़र आ रही हैं, जिनकी तरफ़ भी कुछ पुरुष नज़र गड़ाए दिखाई दे रहे हैं। कार्टून के कैप्शन में लिखा है : पर्दा न करने वाली स्त्री का

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 75

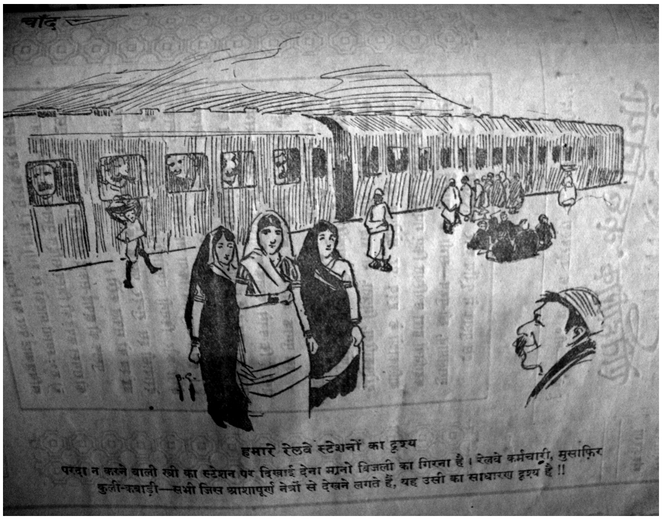

चित्र 2 : हमारे रेलवे स्टेशनों का दृश्य (*चाँद*, अप्रैल 1928)

स्टेशन पर दिखाई देना मानो बिजली का गिरना है। रेलवे कर्मचारी, मुसाफ़िर, कुली-कबाड़ी सभी जिस आशापूर्ण नेत्रों से देखने लगते हैं, यह उसी का दृश्य है।[35]

अगला कार्टून 'पुरुष समाज स्टेशन पर' भड़काऊ तरीक़े से एक भद्र-पुरुष को जनाने-डब्बे के अंदर सुध-बुध खोकर बुरी तरह घूरते हुए दिखाता है। वह ताड़ने में इतना मशगूल है कि उसे अपनी पगड़ी-टोपी (इज़्ज़त) का ठिकाना भी नहीं है। मर्दों की व्यभिचारी नज़र और रवैये का मख़ौल उड़ाते इन व्यंग्यचित्रों में कई मायने छिपे हैं। एक तो स्पष्ट किंतु परोक्ष सुधारवादी अपील है : सार्वजनिक जगहों में स्त्रियों की उपस्थिति में असहजता और दिक़्क़त पैदा करने वाले कारक (स्त्रियों में न होकर) अजनबी स्त्रियों के प्रति मर्दों के सामान्य आचरण और रवैये में ही मौजूद हैं। इसलिए हिंदुस्तानी मर्द और उनकी मर्दानगी में बदलाव और सुधार की सख़्त ज़रूरत है। इसके अलावे, पर्दा न रखने वाली ये लड़कियाँ मर्दों के हमलावर नज़रिए और बर्ताव के बावजूद, दरअसल उन्हें नज़रअंदाज़ करके, बिना मर्दों की संगति में, अकेले या महिला सखा-रिश्तेदार के संग, बाहर आवाजाही और यात्रा कर रही हैं। ये पिछले दशकों की चित्रकलाओं (*नूतन चरित्र*) और प्रियंवदाओं (*आदर्श हिंदू*) से भिन्न हैं जो अजनबी मर्दों के अवांछित स्पर्श से बचने के लिए अपने पुरुष रिश्तेदार या प्रेमी के सुरक्षा-चक्र का या हमलावर निग़ाहों से छुपने के लिए किताब का इस्तेमाल परदे की तरह करती थीं। उनके विपरीत, ये बेपर्द महिलाएँ मर्दानी निगाहों से बेपरवाह होकर आपस में मशग़ूल हैं। सर ऊँचा

[35] इअन केर ने भी अपने लेख में ऐसी ही विषय-वस्तु का उल्लेख करते हुए गगनेंद्र नाथ टैगोर के एक कार्टून को उद्धृत किया है जिसमें डिब्बों और प्लैटफ़ॉर्म पर बैठे एक-एक भद्र-पुरुष स्टेशन परिसर में मौजूद युवतियों को बेशर्मी से घूर रहे हैं. लेकिन केर ने इस कार्टून का इस्तेमाल सिर्फ़ रोज़ाना की देशी ज़िंदगी में रेल के सामान्यीकरण (नेचुरलाइज़ेशन) को दिखाने वाले साक्ष्य की तरह किया है. वे महिलाओं के रेल-अनुभव के मुद्दे की पड़ताल करने में दिलचस्पी नहीं दिखाते हैं. केर (2003) : 319-20.

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 76

चित्र 3 : पुरुष समाज (स्टेशन पर) (चाँद, जून 1930)

कर (और शायद बंद मुट्ठी के साथ!) अपने रस्ते आगे बढ़ती दिखती हैं, या बेशर्म घूरते मर्दों को पीठ दिखा कर नज़रअंदाज़ करती हैं।

अगला कार्टून 'प्लैटफ़ॉर्म पर स्नान' तो और भी दिलचस्प है। नहाने-धोने की कर्मकांडी पवित्रता को लेकर एक जुनूनी मारवाड़ी सेठ सरेआम खुले में, रेलयात्रा के बीच में डिब्बे से प्लैटफ़ॉर्म पर उतारकर, अपनी बीवी को स्नान करवा रहा है। [36] महिला नाख़ुश नज़र आती है, शायद अपनी इच्छा के विपरीत खुले में नहाने को मजबूर किए जाने के कारण, या पति द्वारा एकांत-बंद जगह न मुहैया कराए जाने के कारण। वहीं इस नज़ारे का मज़ा लेने वाली बेशर्म मर्दानी निगाहें, जिनमें अंग्रेज़ और हिंदुस्तानी भद्र पुरुष दोनों शामिल हैं, मारवाड़ी सेठ की मूर्खता को भो रेखांकित कर रही हैं। कुल मिलाकर, ये तीनों कार्टून अपने-अपने अंदाज़ में रेलवे की सार्वजनिक जगहों को महिलानुकूल, गरिमापूर्ण, सहज और सुविधाजनक बनाने की वकालत करते दिखते हैं, और ज़ाहिर तौर पर इसके लिए पुरुषों को बदलने की तथा नए आचरण और व्यवहार को आज़माने की पैरोकारी करते हैं।

---

[36] यहाँ शायद एक सेठ अंदर बैठा है और 'पानी-पांडे' को जल्दी नहलवाने के लिए बोल रहा है. या बाल्टी से पानी उड़ेलने वाला ख़ुद ही सेठ है. पहली बार यह कार्टून *चाँद* के विशेषांक (*मारवाड़ी अंक* 1929) में छपा, उसके बाद कई बार पुनर्मुद्रित हुआ.

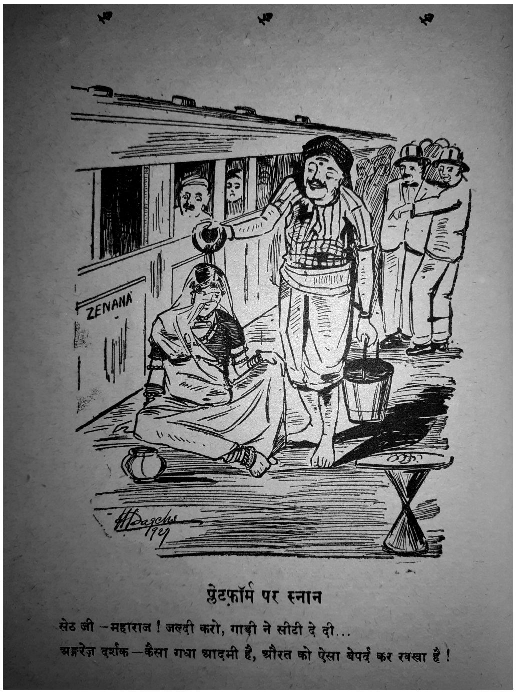

चित्र 4 : प्लेटफ़ॉर्म पर स्नान (चाँद, नवम्बर 1931)

तुलनात्मक विषमता के सहारे अगले दो व्यंग्यचित्रों की कथावस्तु में भी यात्रा के दौरान महिलाओं के प्रति मर्दों के व्यवहार-आचार की विभिन्न ख़ामियों को उजागर किया गया है।

चित्र 5 : यहाँ और वहाँ के सभ्य यात्री (चाँद, मार्च 1930)

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 78

'यहाँ और वहाँ के सभ्य यात्री' (चित्र 5) में युरोप और हिंदुस्तान के ट्रेन-डब्बों के अंदर के माहौल में अजनबी स्त्री-पुरुष यात्रियों के यात्रा-अनुभव के कुछ ख़ास पहलुओं को दर्ज किया गया है। दो प्लेट वाले इस कार्टून में एक तरफ़ भारतीय और दूसरी तरफ़ युरोपीय ट्रेन डब्बे को दिखाया गया है। भारतीय ट्रेन में पुरुष यात्रियों की अशिष्टता को विशेष रूप से रेखांकित करते हुए चित्रण में दो बातें संप्रेषित की गई हैं : महिला सहयात्री खड़ी-खड़ी यात्रा कर रही है। लेकिन, अपनी सीट छोड़ने के बजाय आधुनिक मर्दानी शिष्टता को धता बताते हुए सभी पुरुष न केवल अपनी सीट पर ठाठ से बैठे हुए हैं, बल्कि वे एक साथ अकेली महिला को घूर भी रहे हैं। मर्दानगी की निराशाजनक भारतीय वास्तविकता को दिखाती इस तस्वीर के बगल में एक काल्पनिक या आदर्श स्थिति को उकेरा गया है। विदेश/युरोप में अवस्थित ट्रेन-अनुभव को दर्शाती दूसरी तस्वीर एक चाहत का बयान करती है, ऐसी चाहत जो एक ही साथ भारतीय वास्तविकता की आलोचना भी करती है और स्त्री सहयात्रियों के प्रति पुरुषों के लिए ज़रूरी नए आचार-विचार का मॉडल भी दिखाती है – जहाँ पुरुष महिलाओं को अपनी सीट ऑफ़र करते हैं, उनसे शिष्ट व्यवहार करते हैं, उन्हें लगातार घूरने की बजाय अख़बार पढ़ते हैं या अपनी निगाहें महिला-देह से परे रखते हैं।

अगला कार्टून 'रेलयात्रा में' (चित्र 6) भी तुलनात्मक विषमता की तकनीक का इस्तेमाल करते हुए भारतीय पुरुषों के दोहरे नैतिक चरित्र और यौनिक धूर्तता को रेखांकित करते हुए उसकी आलोचना करता है। पहले फ्रेम में भारतीय मर्द का अपनी स्त्री के प्रति (अशिष्ट और संवेदनहीन) बर्ताव दिखाया गया है। वह ख़ुद चैन से पसर कर सो रहा है और उसकी पत्नी सामान को सीट बनाकर बच्चे के साथ जगी और बैठी है, या शायद झपकी ले रही है। दूसरे फ्रेम में, भारतीय मर्द के अजनबी महिला के प्रति एकदम विपरीत रवैये को दिखाया गया है। वह रेल-यात्रा में अपने अख़बार से निगाह फेर कर, अपनी सीट छोड़ कर, (शायद इस एहसान के बदले) उन्हें घूर रहा है। ज़ाहिर है, ये दोनों कार्टून भी मर्दों को उनकी हमलावर नज़र और असंवेदनशील रवैये को बदलने की पैरोकारी करते हैं।

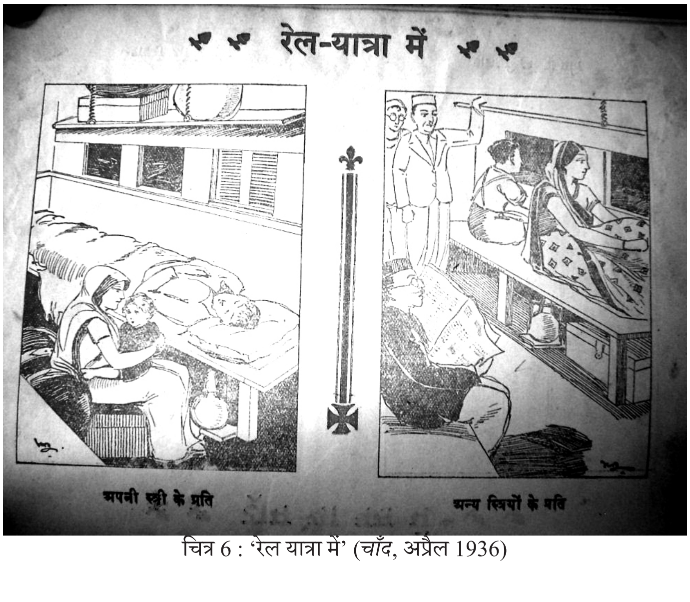

चित्र 6 : 'रेल यात्रा में' (चाँद, अप्रैल 1936)

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 79

भारतीय पुरुषों की नज़र को लेकर काफ़ी और क़िस्मों की रोचक चर्चाएँ मिलती हैं जो सिर्फ़ औरतों के यौन-उत्पीड़न की वास्तविकता को ही उजागर नहीं करतीं बल्कि सुधारवादी विमर्शों के कुछ अन्य तारों से भी जुड़ती नज़र आती हैं। जैसा कि हम जानते हैं, रीतिकालीन काव्य-सौंदर्य और संवेदना में दैहिकता, यौनिकता और कामधर्मी प्रेम के कारण तत्कालीन सुधारवादी साहित्यिक विमर्शों के शुचितावादी चिंतनों में इसके प्रति काफ़ी नकारात्मक रवैया अपनाया गया। शृंगार को राष्ट्रीय या सामुदायिक स्तर पर नैतिक-चारित्रिक पतन का ज़िम्मेदार बताया गया। पुरुषों द्वारा महिलाओं को छेड़ने-घूरने के व्यभिचारी रवैये को भी प्रायः रीतिकालीन साहित्यिक-सौंदर्यशास्त्रीय संवेदनाओं या पूर्व/ग़ैर-आधुनिक संस्कृति के अतिशय 'दुष्प्रभाव' से जोड़ा जाने लगा। कार्टून 'रस-ज्ञान और नारी-सम्मान' तथा शिवपूजन सहाय की एक अनूठी ललित कहानी में यह बखूबी ज़ाहिर होता है। कार्टून के पहले फ़्रेम में एक साहित्यानुरागी रसिक अपने ड्रॉइंग रूम में सिगरेट पीते हुए कुछ ऐसी पुस्तकें पढ़-गुन रहा है, जिससे वह आनंदित व तल्लीन होकर कल्पना लोक में विचरण करने लगा है। चित्र-बैलून के ज़रिए पता चलता है कि उसके भाव-विभोर होने का कारण और कुछ नहीं बल्कि उसके मानस-पटल पर हावी एक सुंदर महिला, यानि शृंगार-साहित्य और उसका रस-सौंदर्य है। दूसरे फ़्रेम में, ऐसे साहित्य के (निजी) पठन-पाठन का अगला चरण या पहले दृश्य का (सामाजिक) परिणाम दिखाया गया है। जब शृंगार रस और साहित्य का रसिक किसी स्वतंत्र युवती को ट्राम/एक्के से आते-जाते, सार्वजनिक जगहों में काम-काज या घूमने-फिरने के लिए निकलते पाता है तो वह उनके शरीर को कामुक और हमलावर नज़र से वस्तु-रूप में ही निहारता है। जहाँ दूसरे पुरुष शायद सिर्फ़ घूर रहे होते हैं, वहीं ऐसे रसिक घूरने के घटिया कृत्य पर सौंदर्य प्रशंसा का लेबल चस्पाँ कर देते हैं।

चित्र 7 : 'रस-ज्ञान और नारी-सम्मान' (चाँद, जून 1935)

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 80

सार्वजनिक जगहों और यात्राओं में स्त्रियों को महसूस होने वाली ऐसी ही समस्या को उजागर करती शिवपूजन सहाय की ललित कहानी आख़िरकार इस मुद्दे की तत्कालीन गंभीरता और विकरालता की ओर इशारा करती है। पहले एक नज़र कहानी के प्रासंगिक उद्धरण पर :

> अकस्मात् चंद्रमोहन बाबू से भेंट हो गई। भेंट होते ही, बड़े आह्लाद के साथ, हमें गलबहिंयाँ में पकड़कर, अव्वल दर्जे के एक डब्बे के सामने ले जाकर, अलग से ही इशारा करके, बोले – 'देखो, ऐसी कांत-कलेवरा लावण्य-यष्टिका तुमने कभी देखी थी? मैं तो प्रतिदिन संध्या-समय टहलते-टहलते स्टेशन चला आता हूँ। प्रत्येक दिन डाकगाड़ी में एक-से-एक सुंदर रूप देखता हूँ। किंतु ऐसा रूप आजतक मैंने कभी डाकगाड़ी में नहीं देखा था। अहा! कैसा मनोमुग्धकर रूप है! यह मानस-सरोवर की कमल-कलिका अथवा नंदन-कानन का विकसित पारिजात-स्तवक भले ही न हो; पर उस 'परम रम्य आराम' की पाटलि-पटली तो अवश्य है। श्वेत साड़ी ऐसी शोभती है जैसे बगुले के पंख में मछली लपेटी हुई हो। हरे रंग के रेशमी फूल साड़ी में टँके हुए हैं, उनकी शोभा कहते नहीं बनती। सिर पर से होता हुआ आँचल, कमर तक पहुँच, कमरबंद से कसकर बेकस हो गया है! वक्षःस्थल पर रेशमी फूलों की झालर तो यों जान पड़ती है, मानो पर्वत-शृंग पर मृदुल लतिका आरोहण कर रही हो।'... देखो अपनी सौंदर्य्य-गर्व-गरिमा से यह बिजली की रोशनी को भी मात कर रही है। जब हँस देती है तब दंत-द्युति देखकर बिजली-बत्ती भी लज्जित हो जाती है! इसके हाथ का रेशमी रुमाल कभी स्वेद-बिंदु पीकर अपनी तृषा शांत करता है और कभी कमर को चूमकर निहाल हो जाता है... एक भद्र महिला के संबंध में अनभिमत बातें सुनकर हमसे चुप न रहा गया। हमने उनकी गलबहियाँ छुड़ाकर, उन्हें फटकारते हुए कहा – 'चंद्रमोहन बाबू! आपके मुख से ऐसी अवांछनीय बातें सुनने की आशा हमें नहीं थी। यदि आप वस्तुतः नित्य ही ऐसे अभद्र कार्य के लिए स्टेशन आया करते हैं, तो यह बड़ी ग्लानि और लज्जा का विषय है![37]

अलंकारिक-शृंगारिक शैली में ही रची आधुनिक साहित्य-रसिक की सस्ती मर्दाना हरकतों को उघाड़ती इस कहानी के ज़रिए हम देख सकते हैं कि रेलवे स्टेशन एक आम दर्शनीय-पर्यटनीय जगह की तरह उभर चुका है, जहाँ लोग सिर्फ़ घूमने, तफ़रीह करने भी जाते हैं। साहित्य-रसिक चंद्रमोहन बाबू एक ऐसे ही शिक्षित पुरुष हैं जो रोज़ाना ख़ाली समय में टहलने और लड़की ताड़ने स्टेशन जाते हैं और ट्रेन डिब्बों के अंदर ताका-झाँकी करते हैं। अजनबी स्त्रियों को घूरने-ताड़ने और उनकी सौंदर्य-विवेचना करने की स्त्री-विरोधी सामान्यीकृत मर्दानी आदतों की समस्या की निशानदेही करती इस कहानी में न केवल पुरुषों की बदचलनी को लताड़ा गया है, बल्कि 'नख-शिख वर्णन' की साहित्यिक परंपरा के वर्तमान में होने वाले दुष्प्रयोग को भी चुनौती दी गई है। यहाँ यह स्पष्ट करना लाज़िम होगा कि अन्य शुचितावादी

---

[37] 'विचार चित्र' (1914 में प्रथम प्रकाशित), देखें सहाय (1920) : 83-85.

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 81

साहित्यकारों की तरह शिवपूजन सहाय ने इस परंपरा की नैतिक आलोचना नहीं की, बल्कि लड़की घूरने-छेड़ने के कृत्य को इतिहास और (रीतिकलीन) परंपरा से जोड़ने या ज़िम्मेदार ठहराने को आड़े हाथों लिया। जो भी हो, पुरुषों की व्यभिचारी नज़र और रवैये की आलोचना और सुधार की वकालत करती इस रचना के केंद्र में रेलगाड़ी में बिना परदे के सफ़र करने वाली महिलाओं के परेशानी भरे अनुभव तो हैं ही, क़ाबिल-ए-ग़ौर है मर्दानी नज़र की समस्या के एक से अधिक शजरे होने की ओर किया गया इशारा भी।

उपसंहार

रेल के भारतीय अनुभवों को दर्ज करते विमर्शों में बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों से भोजन और जाति संबंधी छुआछूत और चिंता की अभिव्यक्ति, कम से कम खुले तौर पर, बंद हो जाती है। तत्कालीन संस्मरणों के छिटपुट साक्ष्य यह इशारा करते हैं कि इन चिंताओं का एक तरह से निजीकरण (प्राइवेटाइज़ेशन) हो जाता है, या स्वच्छताकरण (हाईजीनाइज़ेशन) के विमर्शों में इनका विलय होने लगता है। यात्री अपना भोजन घर से लेकर चलते हैं और फल, मिठाई, चाय आदि बाहर से ख़रीदते हैं। यात्रा के तुरंत बाद नहाने-धोने का इंतज़ाम करते हैं और तभी खाना खाने की कोशिश। अनुशासन और बंदिश से भरे खाने-पीने के इस नए ढंग और रवायत के मद्देनज़र, ऐसा लगता है, जाति-आचार अब नए तरीक़े से पुनर्नियोजित होने लगे। कुछ यूँ कहें कि सार्वजनिक जगहों में, जो कि मिला-जुला भी है और विभाजित भी, अब देह ही अंतिम सीमा बन गई और उसे दूसरे के बनाए भोजन से दूर रखना और/या ख़ुद को साफ़-सुथरा रखना निहायत ज़रूरी। धीरे-धीरे शुद्धता-प्रदूषण की जाति-आधारित छूतछात की चिंता स्वच्छता-स्वास्थ्य की शब्दावली में परिशोधित होती दिखती है। समकालीन संस्मरणात्मक रचनाओं में मौजूद साक्ष्यों के हवाले से पता चलता है कि ऐसे लोग, जो यात्रा में इन बंदिशों को न मानते थे या सामान्यतया बाहर कुछ भी खा-पी लेते थे, वे भी घर आकर तुरंत सबसे पहले नहाया करते थे। शायद 'आत्म-प्रक्षालन' के कर्मकांड की तरह![38]

इसके अलावे, रेल-पेल और नस्ल-भेद की समस्या अब मुखर नहीं नज़र आती, या बक़ौल चित्र 1, उसकी रूपांतरित अभिव्यक्ति राष्ट्रीयता और वर्ग-भेद की पदावली में होने लगती है। 'रेलवे शिष्टाचार' (चित्र 8) जैसे कार्टूनों में वर्ग-भेद पर ज़्यादा ज़ोर नज़र आने लगता है: जब सभी यात्री-उपभोक्ता भारतीय हैं और सबने उचित दाम दिए हैं तो फिर उन्हें मिलने वाली इज़्ज़त और सुविधाओं में भेदभाव क्यों? मसलन कार्टून शृंखला को देखिए, अपने अर्थों को सीधे संप्रेषित करती इन छवियों को विश्लेषण की कोई ख़ास दरकार ही नहीं। स्पष्ट है कि

[38] जैसे महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा (1877-1929), प्रोफ़ेसर, पटना कॉलेज के बारे में लिखे गए संस्मरणात्मक निबंध से पता चलता है कि वे रेल यात्रा में या स्टेशन पर खाने-पीने में कभी कोई परहेज नहीं करते थे. लेकिन वे निजी स्वच्छता को लेकर निहायत जुनूनी (ऑब्सेस्ड) थे. इतना ही नहीं, वे बाहर से घर आने या शौच से निवृत्त होने के बाद, हरेक बार निश्चित रूप से नहाया करते थे. सिंह (1978) : 50, 101.

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 82

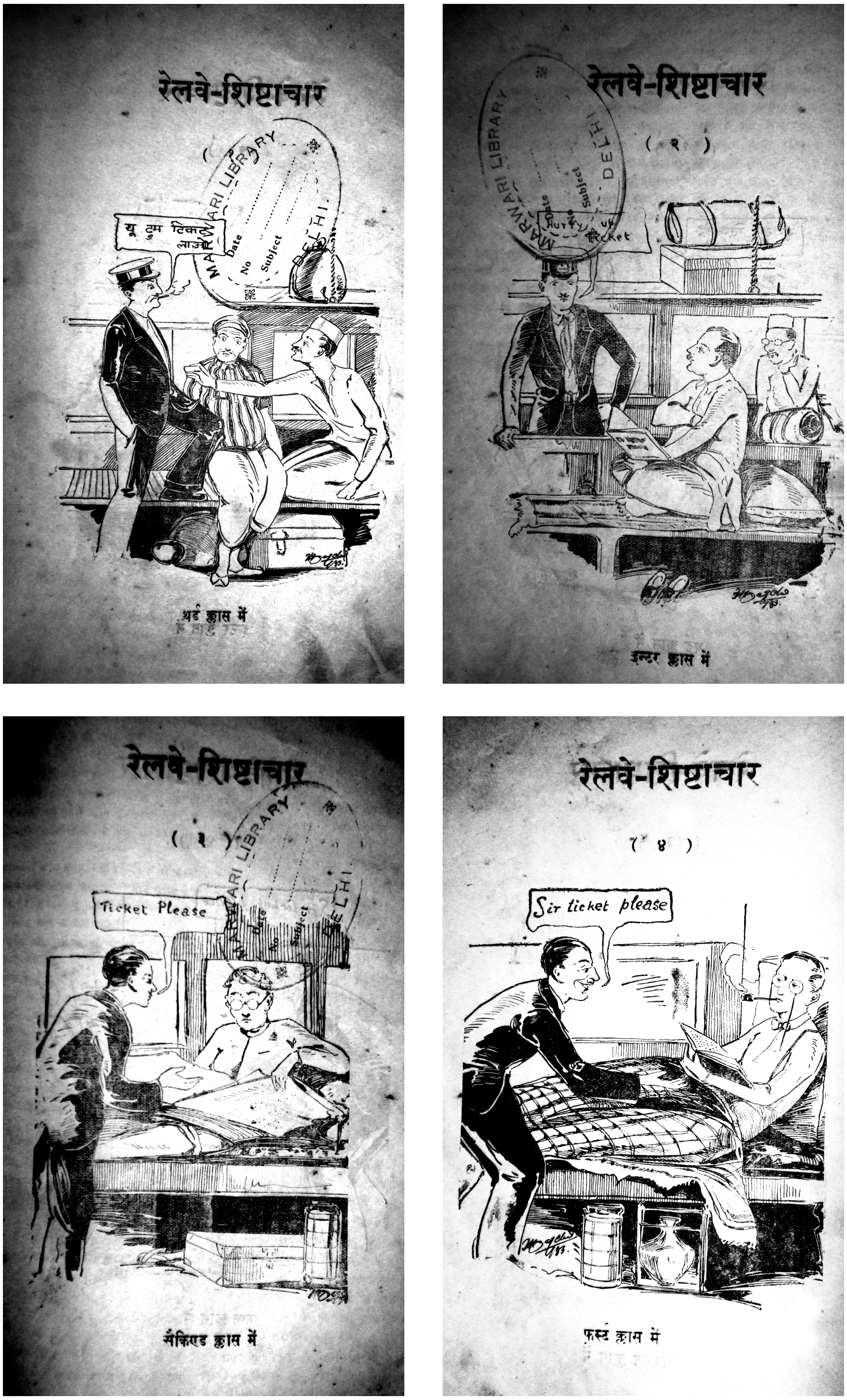

चित्र 8 : रेलवे-शिष्टाचार (चाँद, फ़रवरी 1938)

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 83

रेल-अधिकारी यात्रियों से उनके दर्जे के अनुसार में क्रमशः बदतमीज़ी, अड़ियलपन, नम्रता और सम्मान और अनुज्ञा-भाव से पेश आते हैं।

रेल अनुभवों के कुछ और प्रसंग और पहलू बदलाव के साथ जारी नज़र आते हैं जिनमें से एक है रेल और रेल-यात्रा का संयोग और संभावनाओं से भरा होना, जहाँ अजनबी लोगों से मुलाक़ात, प्यार-मोहब्बत और नई सामाजिकता को बढ़ावा मिलता है। मसलन, अनूपलाल मंडल की सुधारवादी प्रेम-कहानी 'संयोग' को उद्धृत कर सकते हैं, जो *चाँद* के अक्टूबर 1931 के अंक में छपी थी।[39] यात्रा के संयोग में एक युवक और युवती कलकत्ते जाने वाले ट्रेन-कंपार्टमेंट में मिलते हैं, इशारों में बातें होती हैं। युवती किताब उधार लेकर पढ़ने लगती है और बिना वापस किए ट्रेन से उतर जाती है, शायद दोबारा किताब के बहाने कॉलेज स्ट्रीट में मिलने के लिए। दोनों में प्यार हो जाता है। ग़रीब किंतु उच्च-शिक्षित लड़का एक अमीर और सुशिक्षित लड़की से यह जानते हुए भी शादी कर लेता है कि उसकी प्रेमिका की माता एक पूर्व-वेश्या है। बहरहाल, इत्तेफ़ाक़ और संभावनाओं का स्पेस होने के अलावे, कथा-विमर्शों में भारतीय समाज, राजनीति और उसकी समस्याओं के माइक्रोकॉज़्म या भारतीयता के सूक्ष्म जगत-दर्शन के माध्यम की तरह भी रेलवे को लक्षित किया गया है। *आदर्श-हिंदू* जैसे शुरुआती उपन्यासों में जहाँ यह धुँधले रूप में या कभी-कभार परिलक्षित होता है,[40] 1940 के आस-पास और उसके बाद यह बहुत ज़्यादा नज़र आता है। ट्रेन यात्रा में टकराने वाले भारत के विविध, विचित्र और दिलचस्प चरित्रों के रोचक वर्णन और समझ के लिए हरिमोहन झा की कहानियों को उद्धृत कर सकते हैं। झा की कहानी *रेल की बात* विशेष रूप से चर्चा के लायक़ है, जो खान-पान और यौनिक शुचिता के परंपरागत दायरों के उल्लंघन की कथा है जिससे बंगाली, पंजाबी और मलयाली युवा-दंपतियों, यानि विविध भारतीयों में एकता स्थापित होती है। ट्रेन के एक ही कंपार्टमेंट में यात्रा कर रहे प्रगतिशील आधुनिक जोड़े न केवल अपने-अपने भोजन बल्कि (सुझावतः) अपने-अपने मीतों की भी अदला-बदली करते हैं।[41]

दूसरा पहलू है, जेंडर और यौनिकता के सवाल का नए रंग-रूप में उभरना। रेलवे परिसर, जो अपने आप में पुरुषों (यात्री, क़ुली, रेहड़ी-खोमचे वाले से लेकर उचक्के, आवारा लोगों तक) के नज़ारे लेने का स्थान (साइट ऑफ़ स्पेक्टेटरशिप) भी बन जाता है, को अपनाने और महिला-अनुकूल बनाने की कल्पनाएँ भी होने लगती हैं। व्यंग्य के आईने से जहाँ सभी वर्गों के

---

[39] बिहार के पूर्णिया जिले में जन्मे अनूप लाल मंडल (1896-1982) 1920 और 30 के दशक के एक प्रसिद्ध लेखक-उपन्यासकार थे. उनकी कई रचनाएँ *चाँद* प्रेस से छपी थीं. और अधिक जानकारी के लिए देखें *परिषद पत्रिका : अनूपलाल मंडल अंक* (1998).

[40] मसलन, हिंदी को अंतरप्रादेशिक संचार की भाषा बनाने के लिए प्रियनाथ एक ट्रेन यात्रा में संस्कृतनिष्ठ हिंदी की महत्ता और ज़रूरत के बारे में अपने सहयात्रियों, जो कि विभिन्न प्रोफ़ेशन, जाति, धर्म, और प्रदेश से ताल्लुक़ रखते हैं, के साथ जिरह करता है. देखिए चैप्टर 'हिंदी और बलिदान', मेहता (1914, 2016) : 172-76.

[41] झा (2008). उदाहरण अनगिनत हैं. भारत-विभाजन और हिंसा के आलोक में लिखी गई ढेरों कहानियों में आम लोगों के आपसी भाव-विचार, तत्कालीन समाज, राजनीति, अंतर-सामुदायिक रिश्तों आदि को लेकर ट्रेन और ट्रेन यात्रा को केंद्र में रखा गया है, देखिए औगियर (2015).

पुरुषों पर आक्षेप किए जाते हैं, वहीं गद्य-रचनाओं में नए पौरुष के गठन का आग़ाज़ भी दिखता है। नए पौरुष की छवियों और आदर्शों में, ज़ाहिर है, जातिवादी-अस्मिताओं के तत्त्व भी बदले हुए अंदाज़ में किंतु बख़ूबी नज़र आते हैं।

लुब्बेलुवाब यह है कि उन्नीसवीं सदी के परवर्ती दशकों से ही हमारे रोज़मर्रा जीवन में नित नई प्रौद्योगिकी के शामिल होने के कारण हमारे विचार और व्यवहार भी प्रभावित और परिवर्तित होते रहे। रेलवे या अन्य तकनीकी वस्तुएँ हमारे समाज, सामाजिक व्यवस्था का न केवल अभिन्न हिस्सा बन गईं, बल्कि वे हमारी वैयक्तिक और सामुदायिक चेतना और सब्जेक्टिविटी की निर्मितियों में भी शामिल हो गईं। रेलवे की पैठ ख़ासकर हमारी परिकल्पनाओं में इतनी गहरी उतरी कि इसके अक़्स 'आधुनिकता के स्वप्न-पटल' (शीला जेसनोफ़्फ़ की शब्दावली में 'ड्रीमस्केप ऑफ़ मॉडर्निटी') पर भी लंबे समय तक नज़र आते हैं। बराबरी-मूलक और न्यायसंगत सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था के स्वप्निल भविष्य की कामना में रचे साहित्यिक आदर्शलोक में भी – जो उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवादी ऊर्जा से संचालित और बोल्शेविक क्रांति के आलोक में समाजवाद के मुक्तिधर्मी वादों से प्रज्वलित हो रहा था –आधुनिक प्रौद्योगिकी की बदलावमूलक शक्ति केंद्रीभूत नज़र आती है। 1924 के आस-पास लिखे गए एक ऐसे ही अनूठे युटोपियन कृति *बाइसवीं सदी* में राहुल सांकृत्यायन ने जिस समतामूलक हिंदुस्तानी और विश्व समाज और व्यवस्था की कल्पना की, उसमें विज्ञान और प्रौद्योगिकी की भूमिका दिलचस्प है, और हमारे इस लेख के लिहाज़ से, इसके अंतर्गत की गई रेलवे की कल्पना काफ़ी प्रासंगिक है। लेख का अंत हम इसी की अति संक्षिप्त चर्चा से करेंगे।[42] सांकृत्यायन की स्वप्न-दृष्टि में, 200 साल के बाद के भारत और विश्व में समाज, राजनीति, सत्ता, संस्कृति आदि मानव जीवन के सभी पहलुओं का पूर्ण लोकतंत्रीकरण हो चुका है : उत्पादन का समूहीकरण, निजी संपत्ति का अंत, समाज और राज्य का संपूर्ण विसैन्यीकरण, जाति-नस्ल-रंग-लिंग-वर्ग आदि के भेद और पदानुक्रम की विलुप्ति, साम्राज्यवाद का ख़ात्मा, आदि सब हो चुके हैं। सांकृत्यायन की दृष्टि में[43] मानवता के ऐसे समतामूलक भविष्य की निर्मिति और साकारीकरण में आधुनिक तकनीकी की भूमिका निहायत ज़रूरी और घटकीय थी। जहाँ तक रेल का सवाल है, इस उपन्यास में रेल द्रुतगामी और स्वतंत्र आवागमन का सर्व-सुलभ साधन है। न केवल यह तकनीकी रूप से बहुत ही अपडेटेड, संश्लिष्ट और ऊर्जा-कुशल है, बल्कि अपने स्थापत्य/वास्तु, डिज़ाइन और सुविधाओं की दृष्टि से बराबरीमूलक है, इसके डब्बे की संरचना दर्जे या वर्ग और लिंग-भेद के हिसाब से नहीं की गई है, इसके टॉयलेट और रसोई की बोगी, घर जैसे साफ़ और स्वच्छ हैं। इतना ही नहीं रेल में एक मिनी-अस्पताल भी है, यानि औपनिवेशिक रेल के यह सीधे

[42] ज़ाहिर है, इतनी छोटी चर्चा इस महान ऐतिहासिक कृति के साथ इंसाफ़ नहीं करती, लेकिन तकनीकी-समाजी परिकल्पना के पर्चे में इसे शामिल नहीं करना भी गुनाह ही होगा. सांकृत्यायन (1943).

[43] जिसके वैचारिक तार या उसकी वंशावली, एक साथ भारतीय बौद्ध-समाजवादी-आधुनिकतावादी सांस्कृतिक-दार्शनिक चिंतन के एक रोचक मिश्रण में मिल सकते हैं.

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 85

विपरीत है। यात्री बिना रेल-पेल के यात्रा करते हैं, स्टेशन भीड़, हल्ला, और दर्शन-पर्यटन का स्थल नहीं है। यात्रा अनुभव इतना आरामतलब है कि डब्बे छोटे चलते-फिरते वातानुकूलित घर की तरह महसूस होते हैं, जो इंसानी शोर-गुल और कर्कश मशीनी आवाज़ से महफ़ूज़ हैं, जिसके कारण यात्री (उपन्यास का नायक-सूत्रधार-बुद्धिजीवी) देश और संस्कृति के पैनोरमिक दर्शन करते हुए उसकी छटा और वास्तविकता का सही-सही बयान कर सकता है – यानि वह सब कुछ जो औपनिवेशिक व्यवस्था में पाना नामुमकिन था!

संदर्भ :

पत्रिकाएँ

चाँद (इलाहाबाद, 1922); भारतेंदु (वृन्दावन, 1883); *सुधा* (लखनऊ, 1927); *हिंदी प्रदीप* (इलाहाबाद, 1877) के विविध अंक

किताब और लेख

अपराजिता मुखोपाध्याय (2019), *इम्पीरियल टेक्नोलॉजी ऐंड 'नेटिव' एजेंसी : अ सोशल हिस्ट्री ऑफ़ रेलवेज़ इन कॉलोनियल इंडिया*, रटलेज, न्यू यॉर्क.

अमीलिया बोनिया (2016), *द न्यूज़ ऑफ़ एंपायर : टेलीग्राफ़ी, जर्नलिज़म, ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ रिपोर्टिंग इन कॉलोनियल इंडिया*, 1830-1900, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

इयन केर (1995), *बिल्डिंग द रेलवेज़ ऐंड द राज, 1850-1900,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

इयन केर (2003), 'रेप्रेज़ेंटेशन ऑफ़ रेलवेज़ इन कॉलोनियल ऐंड पोस्ट-कॉलोनियल साउथ एशिया', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, 37, 2 : 287-326.

इयन केर (सं.) (2008), *27 डाउन : न्यू डिपार्चर्स इन इंडियन रेलवे स्टडीज़*, ऑरिएंट लॉन्गमैन, दिल्ली.

ए. एस. कलसी (1992) 'परीक्षा गुरु (1882)' द फ़र्स्ट हिंदी नॉवेल ऐंड द हिंदू इलीट', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, 6, 4 : 763-790

ओमप्रकाश सिंह (सं.), (2010) *भारतेंदु ग्रंथावली-6*, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली.

कर्मेंदु शिशिर (सं.), (1990) *भारतेंदु मंडल के प्रमुख रचनाकार राधाचरण गोस्वामी की चुनी हुई रचनाएँ*, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद.

कामा मैक्लीन (2003), 'मेकिंग द कॉलोनियल स्टेट वर्क फ़ॉर यू : द मॉडर्न बिगिनिंग्स ऑफ़ दि एन्सिएंट कुंभ मेला इन इलाहाबाद', *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़*, 62, 3 : 873-905.

गोपाल राय (1968) *हिंदी उपन्यास कोष*, ग्रंथ निकेतन, पटना.

जेम्स टेलर (2005), 'बिज़नेस इन पिक्चर्स : रेप्रेजेंटेशन ऑफ़ रेलवेज़ इन नाइनटीन्थ सेंचुरी सटैरिकल प्रेस', *पास्ट ऐंड प्रेज़ेंट*, नं. 189 : 111-145.

जैक सिमोंस (1994), 'अ पावरफुल क्रिटिक ऑफ़ रेलवेज़ : जॉन टेनिअल इन पंच', *दि एक्सप्रेस ट्रेन ऐंड अदर एसेज़*, डेविड सेंट् जॉन थॉमस, नयर्ण : 133-157.

ज्ञानचंद्र जैन (1998), *प्रेमचंद पूर्व के हिंदी उपन्यास*, आर्य पुस्तक मंडल, दिल्ली.

डेविड आर्नोल्ड (2000), *साइंस टेक्नोलॉजी ऐंड मेडिसिन इन कॉलोनियल इंडिया*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

डेविड आर्नोल्ड (2013) एवरीडे टेक्नोलॉजी : मशीन ऐंड द मेकिंग ऑफ़ इंडियाज़ मॉडर्निटी, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

दामोदर शास्त्री (1886), *मैं वही हूँ*, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर.

दीपकांत लाहिरी चौधरी (2010), *टेलीग्राफ़िक इम्पीरीयलिज़म : क्राइसिस ऐंड पैनिक इन दि इंडियन एंपायर, 1830-1920,* पाल्ग्रेव मैकमिलन, लंदन.

ध्रुव रैना और सैयद इरफ़ान हबीब (1989) 'कल्चरल फ़ाउंडेशंस ऑफ़ अ नाइनटींथ सेंचुरी मैथेमेटिकल प्रोजेक्ट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 24, 37 : 2082-2086.

ध्रुव रैना और सैयद इरफ़ान हबीब (1995), 'भद्रलोक पर्सेप्शनस ऑफ़ साइंस, टेक्नोलॉजी ऐंड कल्चरल नैशन-लिज़म', 32, 1 : 95-117.

निकोलस डाली (1998), 'ब्लड ऑन द ट्रैक्स : सेंसेशन ड्रामा, द रेलवे, ऐंड द डार्क फ़ेस ऑफ़ मॉडर्निटी', विक्टोरियन स्टडीज़, वॉल्यूम 42, नंबर 1 (ऑटम) : 47-76.

नितिन सिन्हा (2016), 'इंजन वर्सेज़ एलीफ़ैंट : ट्रेन टेल्स ऑफ़ इंडियन मॉडर्निटी', *इंटरडिसिप्लिनेयर ज़ाइटश्रीफ्ट फ़ुअर ज़ुदासिएनफ़ॉरशुंग,* नं. 1 : 112-130 <https://doi|org/10|11588/izsa|2016|1|846>

परिषद पत्रिका (1998), अनूपलाल मंडल अंक, संयुक्तांक 137-140 बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना.

प्रभात कुमार (2015), *सटायर, मॉडर्निटी, ट्रांसकल्चरलिटी इन लेट नाइंटींथ ऐंड अर्ली ट्वेंटिएथ सेंचुरी नॉर्थ इंडिया*, डी. फिल. थीसिस, ऊनिवर्सिटाट हाइडेलबेर्ग.

भवदेव पांडेय (2006), *हिंदी कहानी का पहला दशक*, रेमाधव प्रकाशन, दिल्ली.

मनु गोस्वामी (2004), *प्रोड्यूसिंग इंडिया : फ़्रॉम कॉलोनियल इकॉनॉमी टू नैशनल स्पेस*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

महथा सुखदेव नारायण सिंह (सं.) (1978), *रामावतारगाथा*, भारतीय शास्त्र समादर समिति, 50; छपरा : 101.

माइकल एडस (1989), *मशीन ऐज़ द मेज़र ऑफ़ मैन : साइंस, टेक्नोलॉजी ऐंड आइडियोलॉजीज़ ऑफ़ वेस्टर्न डॉमिनेंस*, इथिका ऐंड लंदन : कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस.

माइकल फ़्रीमैन (1999), *रेलवेज़ इन विक्टोरियन इमैजिनेशन*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हेवेन.

मैरियन औगियर (2011), *ट्रैकिंग मॉडर्निटी : इंडियाज़ रेलवेज़ ऐंड कल्चर ऑफ़ मोबिलिटी,* युनिवर्सिटी ऑफ़ मिनेसोटा प्रेस, लंदन.

रवि आहूजा (2009) *पाथवेज़ ऑफ़ एंपायर : सर्कुलेशन, 'पब्लिक वर्क्स' ऐंड सोशल स्पेस इन कॉलोनियल ओड़िसा, 1780-1914,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद.

रवि आहूजा, (2003), 'द ब्रिज-बिल्डर्स' : सम नोट्स ऑन रेलवेज़, पिल्ग्रिमेज ऐंड द ब्रिटिश 'सिविलाइज़िंग मिशन' इन कॉलोनियल इंडिया', *कॉलोनियलिज़म ऐज सिविलाइज़िंग मिशन : द केस ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया*, (सं.) हेराल्ड फ़िशर-टिने और मिशेल मान, ऐंथम प्रेस, लंदन : 195-216.

रामनिरंजन परिमलेंदु (2007), *मोहनलाल महतो वियोगी*, साहित्य अकादमी, दिल्ली.

राहुल सांकृत्यायन (1943), तृतीय संस्करण, *बाइसवीं सदी*, किताब महल, इलाहाबाद.

ऋतिका प्रसाद (2015), *ट्रैक्स ऑफ़ चेंज : रेलवे ऐंड एवरीडे लाइफ़ इन कॉलोनियल इंडिया*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

लज्जाराम मेहता (1914, 2016), *आदर्श हिंदू*, (सं.) कुमार पंकज, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली.

लाउरा बेयर (1994), 'मेइसेज़िनेशन ऑफ़ मॉडर्निटी : कंस्ट्रक्टिंग यूरोपियन रेस्पेक्टेबिलिटी ऐंड रेस इन इंडियन रेलवे

03Prabhat_Layout 1 08-02-2024 18:36 Page 87

कॉलोनी, 1857-1931', *वीमेन्स हिस्ट्री रिव्यू*, 3, 4 : 531-548.

वसुधा डालमिया (1997), द *नैशनलाइजेशन ऑफ़ हिंदू ट्रैडीशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

वसुधा डालमिया (1999), 'अ नॉवेल मोमेंट इन हिंदी : 'परीक्षा गुरु', *नैरेटिव स्ट्रैटेजीज़ : एसेज़ ऑन साउथ एशियन लिटरेचर ऐंड फिल्म्स* (सं.) वसुधा डालमिया और थिओ दम्स्तीग्त, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली : 169-184.

वीर भारत तलवार (1993), *राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य : कुछ प्रसंग, कुछ प्रवृत्तियाँ*, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली.

वुल्फ़गंग शिवेलबुश (1977, 2014), द *रेलवे जर्नी : दि इन्डस्ट्रियलाईज़ेशन ऑफ़ टाइम ऐंड स्पेस इन द नाइनटीन्थ सेंचुरी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कली.

शिवपूजन सहाय (1920) *विभूति : सोलह ललित कहानियाँ*, पुस्तक भंडार, लहेरियासराय.

शीला जेसनोफ़्फ़ (2015), 'फ़्यूचर इंपर्फ़ेक्ट : साइंस, टेक्नोलॉजी, ऐंड दि इमैजिनेशंस ऑफ़ मॉडर्निटी', *ड्रीमस्केप्स ऑफ़ मॉडर्निटी : सोसिओ-टेक्निकल इमैजिनरीज़ ऐंड द फ़ैब्रिकेशन ऑफ़ पॉवर*, (सं.) शीला जेसनोफ़्फ़ और शांग-ह्यून किम, शिकागो युनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो.

संजय जोशी (2005), *फ़्रैक्चर्ड मॉडर्निटी : मेकिंग ऑफ़ अ मिडिल क्लास इन कॉलोनियल नॉर्थ इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

सुदीप्त कविराज (2000), 'लाफ़्टर ऐंड सब्जेक्टिविटी : द सेल्फ़-आयरॉनिकल ट्रैडीशन इन बेंगाली लिटरेचर', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़,* वॉल्यूम 34, नंबर 2 : 379-406.

हरिमोहन झा (2008), *रेल की बात*, अंतिका प्रकाशन, दिल्ली.

हैरिअट ब्युरी (2008), 'नॉवेल स्पेसेज़, ट्रांजिशनल मोमेंट्स : निगोशिएटिंग टेक्स्ट ऐंड ट्रैवल एकाउंट्स इन लेट नाइनटीन्थ सेंचुरी', *27 डाउन : न्यू डिपार्चर्स इन इंडियन रेलवे स्टडीज़*, (सं.) इयन केर, ऑरिएंट लॉन्मैन, दिल्ली : 1-39.